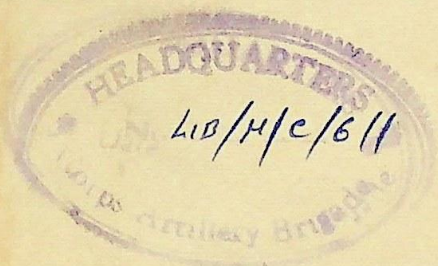
जलता हुआ लावा



रमेश बक्षी


HEADQUARTERS
LIB/H/C/611
Corps Artillery Brigade

चलता हुआ लावा



चलता हुआ लावा

□ □

रमेश बख्शी

□



राधाकृष्ण प्रकाशन

४

रुपये

५०

पैसे

ओम्प्रकाश,

राधाकृष्ण प्रकाशन,

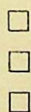
२, अन्सारी रोड, दरियागंज दिल्ली द्वारा प्रकाशित



रूपक प्रिन्टर्स

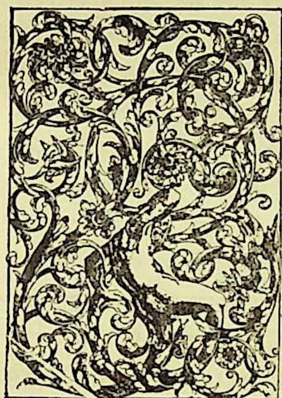
२/७ दरियागंज, दिल्ली द्वारा मुद्रित

क्रम □ □ □



रमेश बख्शी
कृत

चलता हुआ लावा



एक झटके के साथ मेरी आँखें खुल गईं, पलकें इतनी ज़ोर से अलग हुई थीं कि मैं चौंक गया। ऐसा नहीं हुआ जैसे कमरे का स्विच ऑन किया गया हो और मरकरी धीरे-धीरे जली हो। हुआ ऐसा जैसे मैं अँधेरे-घुप्प कमरे में बैठा होऊँ और सड़क पर एकदम बत्तियाँ जल गई हों। अब यह कहना मुझे अच्छा लग रहा है कि मेरी आँखें खुली नहीं थीं, सहसा जल उठी थीं। उन जलती हुई आँखों से जो पहली बार देखा वह आकाश था, सरासर आकाश, नीला नहीं, साँवला और धुएँ से परेशान। आँखें दायें-बायें घूमीं तो नारियल के दो पेड़ों की फुनगियाँ दिखाई दीं। नींद खुलने पर जैसे हाथ चश्मा उठाने के लिए सिरहाने जाता है वैसे ही उस नारियल के छत्ते को देख हाथ सिरहाने जाने को उठे लेकिन मैं आश्चर्य में डूब गया यह महसूस करते कि मेरे हाथ बँधे हुए हैं। पलकों को मैंने धीरे से दो-तीन बार झपकाया और यह समझने की कोशिश करने लगा कि मैं कहाँ हूँ और क्यों तो मेरे हाथ बँधे हुए हैं और क्यों मेरी आँखें स्ट्रीट-लाइट के अन्दाज़ में जली हैं जबकि वे हमेशा बड़े इत्मीनान से खुला करती हैं...? मैंने गरदन घुमाई

तो यह लगा कि मैं अपने दीवान पर नहीं, किसी चारपाई पर सोया हुआ हूँ, यह भी लगा कि चारपाई की रस्सियों पर घास या पुवाल क़िस्म की कोई चीज़ बिछा दी गई है और उस पर मैं चित्त सोया हूँ। मैंने शरीर को धीरे से हिलाया तो पाया कि उस घास-पुवाल पर कोई सख़्त-सी चादर बिछी हुई है। मेरा दीवान ख़ासा आरामदेह है, उस पर जो गद्दी बिछी है वह कुछ इस तरह की नरम है कि उस पर किसी एक करवट या सरासर चित्त लेटना सम्भव ही नहीं है उस पर लोट लगाने को मन होता रहता है। वैसे बार-बार करवट बदलने की मेरी आदत भी है। मैं नींद में करवट ही नहीं बदलता रहता हूँ, सिरहाने-पैताने भी बदल लेता हूँ। तकिया उठा-उठाकर उत्तर-दक्षिण होते रहना ही शायद नींद लेना है। उस दीवान से इतना अधिक जुड़ा नहीं होता तो न चारपाई चुभती, न ही यह लगता कि गद्दी की जगह घास-पुवाल विछा हुआ है। जब गरदन घुमाई तो यह साफ़ लग गया कि मैं अपने कमरे में नहीं हूँ और कहाँ हूँ यह जानने के लिए चश्मे की तरफ़ हाथ बढ़ा था लेकिन सिरहाना खाली है यह मालूम हो इससे पहले इस बात ने मुझे परेशान कर दिया कि मेरे हाथ बँधे हुए हैं। अगर हाथ बँधे होने के अहसास के साथ ही अपने कमरे की छत दिखाई देती या सिर पर घूमता पंखा आँखों में अटकता तो मैं ज़ोर से चीख उठता क्योंकि तब मन यह निश्चित समझ लेता कि किसी ने मुझे अपने कमरे में बाँध दिया है और यह सारा काम मेरी नींद डूबी हालत में हुआ है...यह सोचना भर मुझे चीखने के लिए विवश कर देता या बिना कुछ सोचे भी मैं चीख उठता। जो हो, उसे तरह डरकर बँधे हुए शरीर से छटपटा उठना बेहतर होता क्योंकि तब मुझे फ़िज़ूल के सोच-विचार में डूबना तो नहीं पड़ता। लेकिन इस समय तो यह तय कर पाना मुश्किल है कि मैं कहाँ हूँ और कहीं भी क्यों हूँ और कहीं भी मैं पहुँच कैसे गया...? मैंने बँधे-बँधे ही हाथों को हिलाया तो पाया कि मेरे हाथ ही नहीं बँधे हैं मेरा तो सारा शरीर ही बँधा हुआ है। पैरों को हिलाया तो लगा कि एक रस्सी मेरे शरीर पर चारपाई के साथ पैरों की तरफ़ से बाँधी गई है। वह रस्सी मेरे शरीर पर गोल-गोल कस दी गई है—एक तनाव पगथलियों पर है, दूसरा घुटने पर, तीसरा जांघों पर, चौथा पेट पर, पाँचवाँ छाती पर और छठा गले पर। मेरे हाथों

पर जाँघ, पेट और छाती पर कसी हुई रस्सी का खिंचाव है। गले पर जो रस्सी का हिस्सा है, उसी ने कंधे को भी जकड़ रखा है। एक बार फिर मेरे हाथों ने सिरहाने रखा चश्मा उठाने के लिए छटपटाहट की लेकिन हाथ कसमसाकर रह गये। वे इतने कसकर बाँधे गये थे कि ऊपर-नीचे हो ही नहीं सकते थे। मैंने सिर को थोड़ा ऊपर उठाया तो फिर आश्चर्य में डूब गया कि एक नई चादर मुझे ओढ़ा दी गई है और उस चादर सहित मुझे बाँध दिया गया है। चादर सफ़ेद रंग की है और इतनी नई है कि मुझे उसके ऊपर लगी मिल की छाप तक दिखाई दे रही है। उस चादर ने मुझे बहुत परेशान कर दिया क्योंकि मैं हमेशा मसहरी ओढ़कर सोता हूँ। मुझसे मसहरी बाँधी नहीं जाती, उसे वैसा ही ओढ़ लिया करता हूँ और सोच लेता हूँ कि रात को मसहरी के चारों सिरे किसी कारण से खुल गये होंगे। लेकिन यह तो चादर है और इतनी नई कि इसमें से कलफ़ की दुर्गंध भी आ रही है। मैं यह सोचते अपने हाथों को बल देता जा रहा हूँ कि रस्सी का कसाव कुछ कम हो जाये। मैंने गरदन को ऊपर उठाया तो गले पर रस्सी ज़ोर से चुभ गई लेकिन बाईं तरफ गरदन घुमाते ही यह लगा कि नारियल का वह छत्ता गायब हो गया है जो अभी-अभी दिखाई दिया था। तब तो मुझे ऐसा लगा था कि मैं किसी मकान की छत पर हूँ और वहीं किसी ने मुझे बाँध दिया है। उस छत्ते को ढूँढने की गरज़ से जैसे ही मैंने गरदन को दाहिनी तरफ घुमाया ऊपर आकाश में लाल रंग का एक गैस भरा गुब्बारा दिखाई दिया। वह मुझे छूकर ऊपर उठा था। उस गुब्बारे से मुझे ऐसा लगा कि यह सुबह का समय नहीं है। हो न हो यह शाम है क्योंकि शाम को ही तो गुब्बारे वाला निकला करता है। पता नहीं क्यों मेरे मन में यह बात जमी हुई है कि गैस भरा गुब्बारा किसी के हाथ से छूट कर ग्राकाश की तरफ़ शाम को ही उठ सकता है, दिन के किसी और समय नहीं। उस गुब्बारे के साथ मेरी आँखें टँग गईं।...बड़ा अजीब तब हुआ जब वह गुब्बारा मेरे साथ-साथ चलने लगा। होना यह चाहिए था कि गुब्बारा ऊपर उठ जाता और मैं उससे दूसरी तरफ़ पड़ जाता लेकिन हुआ उल्टा। इससे मेरा मन सन्देही हो गया। मेरा सन्देह सच भी निकला... मैंने पाया कि मैं सोये-सोये चल रहा हूँ—आगे की तरफ़ बढ़ रहा हूँ।

हाथ खुले होते तो मैं आँखें मसलकर देखता कि मैं चल रहा हूँ या साथ का आकाश ही मुझसे उल्टी दिशा में दौड़ने लगा है। अन्दर के अनिश्चय से मैंने गरदन को दो-तीन झटके दिये और बड़ी जल्दी-जल्दी बायें-दायें उसे घुमाया। सच ही मैं चल रहा था। वह गुब्बारा मेरी ही दिशा में आगे बढ़ रहा था लेकिन आगे बढ़ने के साथ-साथ वह ऊपर भी उठता जा रहा था। गरदन को मैंने जो ज़ोर से झटका मारा उसमें एक अच्छी बात हो गई कि गरदन पर से रस्सी कुछ ढीली हो गई। उसके ढीला हो जाने से मैं गरदन को ऊपर उठाने में समर्थ हो गया लेकिन गरदन के ऊपर उठते ही मैंने जो देखा उसकी कल्पना से भी मैं सिहर सकता था। मेरे पैरों के पास दो सिर दिखाई दिये—नंगे सिर, लेकिन ठीक से कंघी किए हुए। बायीं तरफ़ वाला सिर घुंघराला था, मेरे जैसे ही उसके बाल थे और उसके बालों की धज से यह साफ़ लग रहा था कि वह सँकरी मोहरी वाला पैंट पहने होगा और उसके बुश्शर्ट पर कोई न कोई अक्षर कढ़ा हुआ होगा। दायीं तरफ़ वाला सिर सीधा-सादा था आम बंगालियों जैसा—या शायद वह ग्वाला था जो रोज़ मेरे घर दूध देने आया करता था। वे दोनों चल रहे थे और यह बात तत्काल समझ में आ गई कि पैताने से मेरी चारपाई को कंधे पर उठाये हुए हैं। जब ग्वालियर में रहता था तो सुना था कि डाकू मानसिंह के गिरोह के लोग डाका डालते हैं और घर लूट ही नहीं ले जाते बल्कि घर-मालिक को चारपाई से बाँध लेते हैं और उसे उठाकर किसी खड्ड में फेंक आते हैं। किस खड्ड में ये लोग ले जाकर मुझे फेंकेंगे यह सोचने या इसके बारे में चिन्तित होने की बजाय मैं यह अनुमान लगाने लगा कि मेरे सिरहाने भी दो आदमी चारपाई को कंधे पर उठाये हुए हैं। मैं अपनी गरदन को या आँखों को उलट नहीं सकता था कि घूमकर देख लेता वे दो कौन हैं। लगा ऐसा कि सिरहाने की तरफ़ बायीं ओर जो आदमी है वह सिगरेट भी पीता जा रहा है। सीधे हाथ से कंधे पर चारपाई थामे हुए है और उल्टे हाथ से कश खींचता जा रहा है। उसकी सिगरेट का धुआँ मुझ पर आता जा रहा है। वैसे सिगरेट पीने की मेरी आदत भी है। सो अनायास ही हाथ फिर हिले, वे फिर सिरहाने जाना चाहते थे क्योंकि मैं सिगरेट भी सिरहाने रख-कर सोया करता हूँ लेकिन वे हिलकर ही रह गये। जो आदमी दाहिनी

ओर होगा उसके बारे में मैं कोई भी अनुमान नहीं लगा सका। यह ज़रूर लगा कि वह क़द से ठिगना आदमी है क्योंकि उसकी तरफ़ वाला सिरा नीचे झुका हुआ था और यह लग रहा था उससे कि मेरे सिर पर तनाव आ गया है। मैं नीचे के शोर को तो देख नहीं पा रहा था लेकिन यह ज़रूर लगा कि भले ही उनका उद्देश्य मुझे किसी खड्ड में फेंक देना रहा हो लेकिन यह सही है कि वे मुझे ढोने में बोर हो रहे हैं। मैंने देखा कि मैं किसी स्कूल की दीवार के सहारे-सहारे ले जाया जा रहा हूँ। दीवार के पास एक हार्न बना था और उसे काली लकीर से काट दिया गया था। मुझे यह लगा कि दीवार की यह सरहद जैसे ही समाप्त होगी ये लोग कुछ बोलेंगे...वैसे इस बात में कोई तुक नहीं है कि जहाँ हार्न बजाने की मुमानियत हो वहाँ हम बोलना भी बन्द कर दें लेकिन मुझे लगा वैसा ही। बायीं तरफ़ एक चाट वाला खड़ा था और उसे तीन लड़कियाँ हाथ में दोने लिये घेरे हुए थीं। वह बड़ी फुर्ती से उन्हें फुचके देता जा रहा था। लड़कियाँ तृप्ति के साथ पानी सुड़ककर फिर दोना बढ़ा देती थीं लेकिन जैसे ही मैं, यानी सोया हुआ मैं, उधर से गुज़रा वे घबरा कर एक तरफ हट गईं और मुँह पोंछने लगीं। ज़रा आगे मुझे यह लगा कि रास्ते के लोग इन डाकुओं को देखकर फुर्ती से अलग हट जाते हैं। किसी की भी मेरे प्रति सहानुभूति नहीं थी, नहीं तो कोई भी इन्हें रोककर मुझे इस चारपाई पर से मुक्त तो करवा ही सकता था या यह भी तो हो सकता था कि कोई पुलिस वाले को ही कह देता कि ये एक आदमी को खड्ड में फेंकने के लिए ले जा रहे हैं। जब मैंने देखा कि स्कूल की सरहद समाप्त होने वाली ही है मैंने हाथों को झटके देना शुरू किया कि वे किसी भी तरह हिलने-डुलने लगें। जैसे गरदन बंधन से कुछ मुक्त हो गई है वैसे ही बार-बार हरकत करने से हाथ भी स्वतन्त्र हो सकते हैं। सहसा आगे के घुँघराले बाल वाले को ठोकर लगी और वह गिरते-गिरते बचा, मेरा सारा भार उसकी तरफ़ फिसल गया और रस्सी अपने आप कुछ ढीली हो गई। उसे जो ठोकर लगी तो बाक़ी तीन हँस दिये, हँसी मुझे भी आई क्योंकि ठीक-ठाक कपड़े पहना आदमी अगर ठोकर खा जाये तो हँसना अच्छा लगता है। उस आदमी ने सम्भल कर कंधा ठीक कर लिया और कंधे को हल्के से झटका भी मारा जिसके कारण मेरा शरीर थोड़ा-सा

दायीं तरफ धंसक गया। इस क्रिया से भी रस्सी कुछ ढीली हुई। मन में यह बात पक्की हो गई कि अगर बाक़ी के इन तीन ढोने वालों को भी एक-एक ठोकर लग जाये तो रस्सी शायद टूट जायेगी और फिर धीरे से मैं उस बंधन से मुक्त होकर इनके कंधों के ऊपर से जम्प लगा जाऊँगा। मैं जम्प लगाने के लिए स्टार्ट भी लेने लगा लेकिन पाया यह कि आगे का रास्ता बहुत साफ़ है श्रौर इन लोगों को ठोकर नहीं ही लगेगी। जिस बाबू को ठोकर लगी है, वह अपने से ही ठोकर खा गया होगा...चलने और वज़न ढोने की बोरडम से नजात पाने के लिए। इसी क्षण मुझे अपने आप पर गुस्सा आया कि मैं यह-वह सोचने में बहुत समय ज़ाया कर रहा हूँ। मेरी जगह और कोई होता तो वह अब तक रस्सी तोड़ डालता या बँधे-बँधे ही इतनी ज़ोर से चिल्लाता कि सड़क चलते सब इकट्ठा हो जाते या नहीं भी चिल्लाता तो इस तरह बँध जाने की बदनसीबी पर रोता तो निश्चित ही। जाने कौन लोग चारपाई पर बाँधकर मुझे लिये चले जा रहे हैं और मैं रो भी नहीं रहा हूँ यह कितनो अजीब बात है...! लेकिन मैं शायद इतना तार्किक हो गया हूँ कि रोने से अधिक सोचने को महत्त्व देने लगा हूँ। जो हो, यह बंधन है ही मान लीजिए मैं अपने दकियानूस परिवार में अपने ही संस्कारों में घिर जाता तो उससे मुक्त होता या नहीं...या मुझे गिरफ़्तार ही कर लिया जाता और जेल में बन्द कर देता कोई तब भी उन सीखचों को तोड़ने के लिए मैं छटपटाता या नहीं... या मैं चिड़ियाघर का कोई जानवर ही होता फिर भी खाना-वाना खाने के बाद भी अपने पिंजरे को तोड़ डालने के लिए गुर्राता या नहीं...? उस क्षण मेरे मन में यह तय कर लिया कि इस तरह चारपाई पर बँधे-बँधे किसी खड्ड की श्रोर जाने की बजाय मुझे इससे छूट भागने के लिए संघर्ष करना चाहिए। और संघर्ष मेरे लिए कोई नई चीज़ तो है नहीं...जन्म लिया है तब से संघर्ष ही संघर्ष चल रहा है। श्रपने बीते हुए दुर्भाग्य को सोचकर मेरे चेहरे पर उदासी आ गई और उस उदासी से मैं सहसा डर गया क्योंकि मेरे लिए एक ओर तो रस्सी तुड़ाना समस्या बन रहा था और दूसरी ओर इस चलती हुई चारपाई पर से सड़क पर फाँद जाना बहुत बड़े साहस का काम था। कंधे तक की ऊँचाई से नीचे फलाँगना कोई बड़ा काम

नहीं है लेकिस इन चार कंधों से मुक्त हो जाना निश्चित ही बड़ा मुश्किल काम है। हो यह सकता है कि मेरे नीचे कूदते ही ये चारपाई को यहीं छोड़ मेरे पीछे भागने लगें और वैसा करेंगे तो ये हैं चार मुझे निश्चित ही पकड़ लेंगे... । ऐसा कोई तरीका नहीं है कि इन चारों को मालूम ही नहीं हो और मैं इस चारपाई पर से भाग जाऊँ । यह सब सोचते मुझे तो पसीना आ गया लेकिन मैंने खुद ही सोचा कि अगर इस रस्सी से मुक्त हो जाता हूँ तो अधिक भीड़-भाड़ वाली जगह यहाँ से कूदूँगा और भागने की बजाय जनता को इकट्ठा कर लूँगा कि ये मुझे ज़बरदस्ती बाँधकर ले जा रहे थे, जनता मेरे पक्ष में हो जायगी और तब इनसे मुक्ति पाना कोई मुश्किल काम नहीं रह जायेगा। यही सोचकर मैं थोड़ा स्वस्थ हुआ और पसीना पोंछने के लिए जैसे ही आगे हाथ बढ़े कि जेब से रूमाल निकाल लूँ मैं दंग रह गया। दोनों हाथों की उंगलियाँ को मैंने पैरों पर घुमाया। पिंडलियों पर के छोटे-छोटे कुंडली खाये बालों का स्पर्श मैंने अनुभव किया। मैंने कुहनियों को अपनी पसलियों से छुलाया तो और भी आश्चर्य में डूब गया कि मैं न पैंट पहने हूँ और न ही बुश्शर्ट ! मैं तो वह काले वाला पैंट पहने था ना, और वह ब्लीडिंग-मद्रास का बुश्शर्ट जिसके पीछे बटन लगे हुए थे। मैंने पंजों को हल्के से हिलाया तो पाया कि पैर में जूते-चप्पल भी नहीं हैं, वैसे जूते-चप्पल पहनकर सोने का तो सवाल भी नहीं उठता लेकिन मेरे कपड़े क्या हुए ? कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं उसके साथ सोया होऊँ और उस समय ही ये मुझे बाँध लाये हों। लेकिन उसके साथ ऐसे सोये तो अरसा हो गया। दार्जिलिंग जाने से पहले एक दुपहर हम दोनों साथ ज़रूर थे लेकिन उसके बाद तो जाने क्या-क्या हो चुका है और मुझे अच्छी तरह याद है कि उस दिन तो बाद में मैंने कपड़े पहन लिये थे और यह बात याद इसलिए रही कि मुझे तत्काल कपड़े पहनते देख उसने कहा था कि ऐसी भी क्या जल्दी है और नशे में डूबा हुआ मैं उसके पास फिर लेट गया था। उसने अपने शरीर पर ऊपर से नीचे तक जो सफ़ेद तौलिया लपेट रखा था। उसे मैंने उठाकर फेंक दिया था। बोली थी वह—'हाये हम तो इत्ते छुटके हैं कि तुम्हारा तौलिया ही हमारे कफ़न के काम आ जायेगा।...' मैंने उसे चपत लगाते कहा था—'कौन जाने तुम छोटे हो या तौलिया बड़ा है ?...' मैंने अपने

ऊपर की चादर को ग़ौर से देखा तो फिर परेशान हो गया—वह कोई चादर नहीं थी, वही तौलिया था। मुझे आश्चर्य भी होने लगा कि उस पर मैंने उस समय मिल की सील कैसे देख ली थी और उसमें से कलफ़ की दुर्गंध कैसे आई थी। मैंने गरदन को उठाया तो मेरी आँखें चमकने लगीं। उस दुपहर वैसे लेटे-लेटे जब इसने फिर उस तौलिये को उठा लिया था तो मैंने कहा था—'हटाओ ना, ये क्या है...।' इसने मुस्कराकर उत्तर दिया था—'यह जो भी हो, साक्षी है...।' सिरहाने रखे पेन से यह कहते इसने उस पर अपना दो अक्षरों वाला नाम लिख दिया था और उसके ठीक नीचे तीन अक्षरों वाला मेरा नाम वह मुग्ध मन लिखती रही थी, वह साल का पाँचवा महीना था—मई। वही सब जो इस तौलिए पर तारीख़-महीने सहित लिखा है, उसी को मैं मिल की सील समझा था। और कलफ़ की दुर्गन्ध...? मैंने ज़ोर से साँस खींची तो जो क़लफ़ लग रहा था वह उसके शरीर की सुगंध में बदल गया। वही तौलिया मेरे शरीर पर है इस बात ने मेरे हाथ-पाँव गरम कर दिये। लेकिन अब तो कूद, भागना और भी असंभव हो गया है—मैं तो यह समझे था कि मुझे ऊपर वाले कपड़े को रस्सी सहित उठा फेंकना है और नीचे कूद जाना है। मुझे अटपटा लगा कि मैं नंगा हूँ और मेरे शरीर पर एक तौलिया ढँककर मुझे ले जाया जा रहा है। इस तौलिये से यह बात तो निश्चित हो गई कि ये लोग मुझे मेरे घर से ही उठाकर लाये हैं, नहीं तो यह तौलिया कहाँ से आता? लेकिन मैं और किसी स्थिति में नंगा तो हो ही नहीं सकता...हमेशा बेहतर बुश्शर्ट पहने रहता हूँ, हमेशा तमीज़ से पेश आता हूँ, मेरी कभी यह इच्छा नहीं हुई कि चौराहे पर नंगा घूमूँ। मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि शुद्ध नग्न स्थिति में भी मैंने यह महसूस किया है कि मैं कुछ न कुछ पहना ही रहता हूँ इसीलिए यह दिगम्बर अवस्था अजीब लग रही है। अब यह तो कर ही नहीं सकता कि इस चारपाई पर से सड़क पर नंगा ही कूद पड़ूँ...। यह हो सकता है कि मैं इस तौलिए को लपेटकर कूद जाऊँ...। कूद जाने की बात इतनी महत्वपूर्ण हो गई या यह कहूँ कि किस स्थिति में क्या पहनकर कूद जाना उचित होगा यह सोचना इतना ज़रूरी हो गया कि रस्सी से मैं बँधा हुआ हूँ और इन गठनों को खोल देना इतना सरल नहीं है जितना मैं समझे

हूँ...यह सब भूल गया। सहसा दायें हाथ का अँगूठा हथेली पर घूमा और छोटी उँगली पर फिसल गया। अंगूठे को वह अभ्यस्त स्पर्श नहीं मिला जो हमेशा मिला करता था—उँगली में वह अँगूठी नहीं थी जो मैं हमेशा पहने रहता था। कैसे अजीब से वह अँगूठी मेरे उँगली में आई थी।...जनवरी की बीस तारीख थी और उसके घर सब लोग कुंभ नहाने गये थे। हम दोनों घर से निकले थे लेकिन कोकाकोला पीयें तो, चाकबार खायें तो, वाटर गेट जा बैठें तो, विक्टोरिया में पागलों की तरह चक्कर काटें तो, वही एक बात, वही बात कि हमारा क्या होगा? वह अगर इस समस्या पर से ध्यान हटाने के लिए यूनिवर्सिटी के किसी मूर्ख लड़के के बारे में कोई बात सुनाने लगे तो मैं पूछ बैठूँ या पूछूँ नहीं कह उठूँ कि पापा इस जन्म में हमारे साथ रहने की बात को कभी नहीं मानेंगे और उसका चेहरा पानी पर तैरते-तैरते डूब जाये या मैं आफ़िस से सम्बन्धित कोई लतीफा सुनाने लगूँ तो हँसने की बजाय वह गंभीर होकर पूछ ले—'हमारे भविष्य का क्या होगा?' इस भविष्य का अर्थ भविष्य ही नहीं होता है...आगे की सारी उम्र से आशय होता है जो दूरबीन से देखने पर भी चौपट ही दिखाई देती है।...ऐसा ही एक क्षण था वह कि हम दोनों ने अपने-अपने रूमालों से अपना-अपना पसीना पोंछा था और वह कुछ कहने को थी कि मैं बोल दिया था—'हम लोग हर तरफ़ से फँसे हुए हैं और जब यह साफ लग रहा है कि दो-चार-दस साल रुकने से भी समस्या नहीं सुलझेगी तो किस बात की हम प्रतीक्षा करें?'...मैंने आगे बढ़ उसके कंधे थाम लिये थे और वह तनकर खड़ी हो गई थी। कहा था मैंने—'बोलो?' उसने एक क्षण कुछ सोचा था। मैं फिर बोला था—'आओ, हम आज ही शादी कर लें।...' उसने मेरी तरफ़ देखा था और बोली थी वह—'आज नहीं, अभी!...' वह चिड़ियाघर का भूगोल था, सामने की तलाबी में दो बत्तखें हमारी तरफ़ तैरती आ रही थीं। सिर के ऊपर एक मोर ज़ोर से चीखा था। मेरी आँखों में उस समय उस जगह से दिखाई देने वाला अलीपुर ब्रिज अपने शोर-शराबे सहित बह रहा था और उसकी आँखों में सामने के पिंजरे में कैद सैकड़ों सोनचिरैयाएँ अन्दर के पेड़ पर फुनगी-फुनगी उड़ने लगी थीं। मेरी अँगूठी उसकी बीच वाली उँगली में थी और उसकी अँगूठी मेरी छोटी उँगली में।

उस अवसर की मिठास में एक उड़ता-सा चुम्बन हम दोनों को छूकर तितली की तरह उड़ गया था। एक क्षण पहले के समस्याग्रस्त हम दोनों उस बिन्दु पर समस्या के चक्रव्यूह में फँस गये थे। हम दोनों उड़ते हुए फिर सड़क-सड़क घूमते रहे थे। बीते हुए को जुगालते उसने कहा था—'पापा अगर शादी के लिए इन्कार करेंगे तो ?...' मैंने आँखों में बनावटी गुस्सा भरकर कहा था—'अब शादी का क्या सवाल उठता है, शादी तो हम आज कर चुके। अब अगर पापा चाहते हैं कि हम साथ नहीं ही रहें तो तलाक़ करवा दें।...' वह हँस दी थी—'हाय कित्ता प्यारा देश है अपना। कोई अगर दो एप्लीकेशन दे—एक मरने के लिए और एक तलाक़ के लिए तो मरने वाले प्रार्थनापत्र पर परमीशन मिल जाएगी।' मैंने कुल्हड़ से चाय पीते कहा था—'तो ठीक है—वी आर कमिटेड टु लव, लिव एण्ड डाई टुगेदर।...'



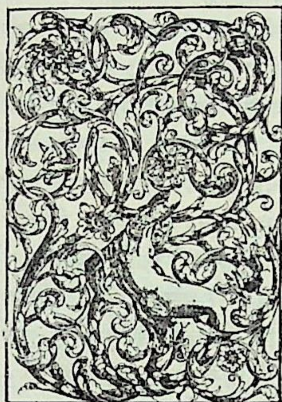
मैं एकदम डर गया। जो चारों चुपचाप चल रहे थे सहसा एक साथ बोलने लगे—'राम नाम सत्य है...।' मैं एक क्षण यह समझा कि पास से गुज़रती किसी अर्थी के लिए ये हमदर्दी से रामनाम बोल दिये हैं या मुझे ढोने की एकरसता को तोड़ने के लिए ही मज़ाक में ये यह वाक्य बोल उठे होंगे। बचपन में हम ऐसा ही एक खेल खेला करते थे। खूब बड़ा घर था न पाँच-

तल्ला, रंगीचंगी गैलरियों वाला, मुँडेरों-मेहराबों वाला। उसके नीचे एक तलघर था, दरवाज़ा जिसका बन्द रहता था, अन्दर जिसके सीलन थी, बग़ैर रोशनदान वाली दीवारें अँधेरा उगलती रहती थीं...उसमें लोगों की आँखें बचाकर जब घुस जाते तो हम सब बच्चे मिलकर यह सोच लेते कि हममें से कोई एक मर गया है...फिर बड़े उत्साह से अर्थी सजाई जाती, मुरदे को उस पर लिटाया जाता। कई बार मैं जब मुरदा बनता तो बीच में हँस देता था...तब मातमपुरसी के लिए इकट्ठे हुए दूसरे बच्चे मुझे पीटते कि लाश को हँसना नहीं चाहिए। मैं हँसना तो बन्द कर देता लेकिन रो देता और तब मेरे रोने पर भी सब मुझे डाँटते कि मुझे रोने का भी अधिकार नहीं है। तब मैं बड़ा दयावना होकर कहा करता था कि मुझे घोड़ा-गधा बना दो लाश मत बनाओ...लाश बनने के प्रति घृणा नहीं है मेरे मन में लेकिन लाश बनना कठिन है यह बात मेरे दिमाग़ में बचपन से ही भरी हुई है, इसी कारण मेरे चेहरे पर वैसी घबराहट आ गई है जैसी किसी छात्र के चेहरे पर कठिन प्रश्नपत्र देखकर आ जाया करती है। स्थिति को समझने के लिए मैंने आसपास देखा तो पाया कि ये लोग मुझे गंगा के किनारे-किनारे ले जा रहे हैं। मैंने जैसे कान खोल लिये फिर से सुनने के लिए कि ये अब क्या बोलते हैं। आगे वाले दोनों निश्चित ही उत्तर प्रदेश के हैं तभी एक बोलता है—'राम नाम सत्य है' और दूसरा तुक मिलाता है उसकी—'सत्य में ही गत्य है'...लेकिन पीछे वाले बंगाल के हैं क्योंकि उनमें से एक जब दबी हुई आवाज़ में 'हरि बोल' बोलता है तो दूसरा उस आवाज़ को खींचकर ज़ोर से कहता है 'ह-रि बो-ो-ो-ल...'। इन आवाज़ों को सुन लेने के बाद भी बात जैसे कन्फर्म नहीं हो पाई हो मैं उनकी आवाज़ों के वज़न तोलने लगा। मुझे सन्देह हुआ कि कहीं वाक़ई ये लोग मज़ाक तो नहीं कर रहे हैं। मैंने बचपन की बात कही न कि लाश—लाश खेलने की हमारी आदत पड़ गई थी। जिनके घर में हर-हमेश शादियाँ होती रहती हैं वहाँ के बच्चे गुड्डे-गुड़िया का ब्याह रचाया करते हैं, जिनके यहाँ बच्चे बहुत पैदा होते हैं वहाँ के बच्चे जच्चा-बच्चा खेलना सीख जाते हैं और हमारे उतने बड़े परिवार में आये दिन कोई न कोई मरता रहता था सो हमें मरने का खेल खेलने की आदत पड़ गई थी। कोई भी जब मर जाता

और बाद में कोई बच्चा जब उसके बारे में पूछ बैठता तो उत्तर यही दिया जाता। 'वे तलघर में रहने चले गये हैं।' तलघर जहाँ अँधेरा और सीलन है जहाँ रोशनी नहीं है जहाँ अन्दर जाने और बाहर आने का एक ही दरवाज़ा है...जैसे-जैसे मैं बड़ा होता गया उस तलघर से मुझे डर लगने लगा। मेरे देखते-देखते ही कई लोग मर चुके थे। यानी वे तलघर में इकट्ठे होते जा रहे थे। एक और अजीब बात थी कि हमारे परिवार में सब लोग सीनियारिटी के हिसाब से मरते थे इसलिए अगले दिनों कौन मरेगा यह करीब-करीब निश्चित रहता था। लेकिन एक दिन सब बोर हो गये कि घर में कोई बीस बूढ़े लोग थे और उन्हें क्रम-क्रम से मरना था। परिवार की हर बहू को किसी न किसी से शिकायत थी। सहसा बरतन बजे और घर टूटा। जिस परिवार में सौ लोग एकसाथ रहते थे छोटे-बड़े सब, वहाँ कुत्ते बैठने लगे। दो-दो, तीन-तीन की टोलियों में सब अलग हुए और अपने-अपने निकट के वृद्ध लोगों को भी साथ लेते गये। केवल दुर्गाअष्टमी पर नवरात्रि में सब लोग पुराने घर जमा होते थे जहाँ चाचा पाठ किया करते थे लेकिन पूजा के समय भी सब लोग ऐसे सिर देकर बैठे रहते हैं जैसे कोई मर गया हो। मेरे पिता इस टूटने से बहुत दुखी थे, वे नहीं चाहते थे कि खानदान बदनाम हो। मुझे मालूम है वे कई बार मुझे परमाणु कहा करते थे। होश आने पर मैंने अर्थ पूछा था तो वे समझाने लगे थे—'कोई एक चीज़ होती है और उसके टुकड़े करते जाओ तो उसे तोड़ते-तोड़ते एक ऐसी स्थिति आती है कि उसके बाद उसके और टुकड़े नहीं किये जा सकते। आखिरी टुकड़ा जो हो है न उसे कहते हैं परमाणु।' इतना कहकर उन्होंने मेरे गाल पर एक चपत लगा दी थी खूब प्यार से। मैं बाद में समझा था कि कुल सौ लोग पाँच हिस्सों में अलग हुए थे फिर वे पाँच भी दो-दो, तीन-तीन हो गये। मैं सातवीं पीढ़ी में था। यह सबसे आगे की पीढ़ी थी, और पिता शायद इसी कारण मुझे प्यार करते थे। कई बार जब वे मेरे लिए चाकलेट खरीदकर लाये हैं मुझे ऐसा लगा है कि जैसे कोई भयंकर बाढ़ आ गई है और सब बहे जा रहे हैं, वैसी स्थिति में किसी टूटी हुई नाव में मुझे चढ़ाकर वे चाह रहे हैं कि मैं बच जाऊँ...। बाढ़ और नाव और सारे परिवार का डूबना तो मैं भूल जाता हूँ लेकिन पिता का भीगा हुआ चेहरा याद रह

जाता है। कई बार वे फार्मेसी से लौटते तो माँ से कहा करते थे—'आज फिर ग़लती हो गई मुझसे मैं सोचता-सोचता पुराने घर चला गया। वहाँ की जब सीढ़ियाँ चढ़ने लगा तो याद आया कि यह मेरा घर नहीं है। माँ समझाती भी 'नाम क्यों नहीं छोड़ते बाप-दादा का। हिस्से की कफ़न भर ज़मीन भी जब खानदान के मुरदे पर से उठाकर भंगी को दे दी तो किसका घर और किसका पुराना घर...?' मैं गणित का सवाल लगाते-लगाते पिता के पास कुछ पूछने जाता और सहसा भूल जाता कि पूछना क्या है। वही हालत इस समय भी है कि नीचे की आवाज़ को सुनकर कहाँ यह कन्फर्म करना चाहता था कि वस्तुस्थिति क्या है और खो गया इस बात में कि बँटते-बँटते हमारा परिवार क्या हो गया...। मैंने एकदम फ़िज़ूल बातों पर से ध्यान हटा लिया और मन में यह तय कर लिया कि और कुछ सोचने का यह अवसर नहीं है। यह ऐसा ही था कि शव यात्रा में चलते-चलते हम ज़बरन सिगरेट पीने की अपनी इच्छा को रोकें और उदास नज़र आने की कोशिश करें। वे चारों अपने-अपने संस्कारों के अनुसार बोलते जा रहे थे। सहसा मेरा सिर नीचा हुआ यानी आगे के दो लोग किसी ऊँचाई पर चढ़े थे। मुझे खुद सम्भलना पड़ा, नहीं तो हो सकता था कि मैं खिसककर पीछे वाले दोनों आदमियों के कंधों पर जा गिरता। पाया यह कि वे मुझे काठ पुल पर से ले जा रहे थे। नीचे गंगा की नहर का सड़ा और बदबूदार पानी बह रहा था। वह दुर्गन्ध इतनी बुरी थी कि मेरी तबियत हुई नाक को बन्द कर लूँ लेकिन एक बार फिर हाथ छटपटाकर रह गया। वे वैसे ही बँधे हुए थे, फर्क केवल इतना आया था कि रस्सी के कसाव कुछ ढीले पड़ गये थे। मैंने ज़ोर से साँसें छोड़ी तो छाती पर का कसाव कुछ नरम पड़ा। मुझे साँसें लेने में वैसी ही तकलीफ़ हो रही थी जैसी ग़लत नम्बर की छोटी गंजी पहन लेने पर होती है लेकिन इतने समय में मैंने उसे बर्दाश्त करने लायक शक्ति बटोर ली थी। बायीं तरफ़ मिट्टी ढोने वाली नाव किनारे लगी थी और उसके पास तीन सूअर एक दूसरे से सटकर सोये थे, उन सूअरों के पास ही एक आदमी उस गंदे पानी से नहा रहा था। मैंने वहाँ से नज़र हटा ली तो देखा कि घाट पर एक ब्राह्मण पिंडदान करवा रहा है और लोग उसी अन्दाज़ में विरक्त होकर नहा रहे हैं

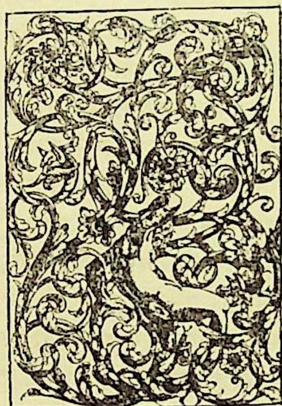
जैसे किसी को जला-फूंक देने के बाद नहाया जाता है यानी इतने निर्लिप्त होकर नहा रहे थे कि यह लग रहा था ये अपने शरीर को ड्राईक्लीन कर रहे हैं। यह तो निश्चित है कि कोई मर गया है लेकिन उसके बाद की औपचारिकता इतनी नीरस लग रही है कि लोग उसे निवाह नहीं रहे हैं बल्कि एहसान कर रहे हैं। सामने केवड़ातल्ला था। दक्षिण कलकत्ता का सबसे पवित्र श्मशान घाट। मेरी माँ जब भी यहाँ से गुज़रती थीं उन्हें मरने की इच्छा होने लगती थी और मुझसे वे कहती भी थीं कि मुझे बेटे यहीं जलाना। मैं ऊपर से तो उन्हें डाँट देता था लेकिन अन्दर ही अन्दर यह ज़रूर सोचता था कि अपने घर से बहुत नज़दीक पड़ता है यह घाट, माँ के मर जाने से अन्त्येष्टि में तकलीफ नहीं होगी। लेकिन ये चार लोग जाने कहाँ से ढोकर ला रहे हैं मुझे...ला नहीं रहे हैं लिये जा रहे हैं। तभी धुएँ का एक डण्डा मुझ पर गिर गया, वह जलते हुए मुर्दे की चिरायध थी। चटख-चटखकर कोई जल रहा था और उसका धुआँ मुझ पर बिखर गया था। मुझे श्मशान से कभी भी डर नहीं लगा, मरे हुए आदमी से भी नहीं। यही कारण है कि मैं श्मशान को सामने देखकर भी परेशान नहीं हूँ। काठ पुल पर से उतरते मुझे विधानबाबू की समाधि दिखाई दी। इस समाधि को मैंने कई बार देखा है और आश्चर्य हुआ है कि यह समाधि क्यों बनाई गई ? मरने के बाद कलकत्ता में तो अस्थिविर्सजन भी नहीं होता। श्मशान का दरबान दो मिनट में उस जगह को साफ़ कर देता है। कहीं जलना जैसे एक सीट की तरह होता है—नाई की दुकान की तरह एक आदमी के बाद उसी कुर्सी पर दूसरा आदमी बैठकर हजामत बनवाता है। जलने वाली जगह समाधि बनवाकर उसे खराब करने से कोई लाभ नहीं मैं तो ताज-महल के बारे में भी यही सोचता हूँ। मुझे इस बात का विश्वास नहीं कि वह प्रेमिका की मृत्यु के बाद बनवाया गया होगा, वह मोहब्बत के मरने के बाद ज़रूर बनवाया गया होगा। प्रेम करने की बजाय बादशाह ने पत्थरों पर कविता लिख दी। मैंने ताजमहल जब पहली बार देखा था तो अपनी डायरी में लिखा था—उल्लू मर गये ताजमहल छोड़ गये।



उस विन्दु तक मैं ठीक था कि ये लोग इस रास्ते से गुज़रकर मुझे या तो कालीघाट ले जायेंगे या वालीपंज की तरफ ही ले जायेंगे लेकिन मैंने देखा कि वे मुझे श्मशान की तरफ़ ले चले। होना यह चाहिए था कि मैं एकदम चिल्ला उठता—'यह मुझे कहाँ ले जा रहे हो' लेकिन मैं इसी वाक्य को वोलने की जैसे प्रतीक्षा करने लगा। यह वाक्य ज़बान पर आने पर भी जैसे फूट नहीं रहा था। शायद यह रुकावट इस कारण से ग्रायी थी कि मैं सोच रहा था—मैं टैक्सी में बैठकर कहीं जा नहीं रहा हूँ। यह तो मैं चार लोगों के कंधों पर ढोया जा रहा हूँ। अब मुझे कहीं पहुँचकर मीटर देखकर किराया थोड़ा चुकाना है जो इनसे कहूँ इधर नहीं उधर चलो। जो हो, यह बात फिर निश्चित हो गई कि मुझे अब क्रिया रूप में कुछ करना है, बकवास बहुत हो ली। अगर मैं बँधा हुआ नहीं होता तो एकदम उठ बैठता। लेकिन बँधे होने पर भी मैंने अपनी सारी शक्ति सहित कसमसाकर उठ बैठने की कोशिश की उस कोशिश में रस्सी बुरी तरह चुभने लगी मुझे। मैं खूब ज़ोर से हिला, वल्कि मैंने उस चारपाई को मचमचा दिया। यह तो लग गया कि इस तरह ये रस्सियाँ नहीं खुलेंगी, लेकिन एक विश्वास मन में आया कि ये चारों इस बात से डिस्टर्ब तो हो ही जायेंगे। हो सकता है ये चारपाई को कंधे पर से उतारकर रस्सियाँ फिर ठीक से कस दें, लेकिन

इन्हें यह मालूम होना आवश्यक है कि मैं जग गया हूँ और यहाँ से निकल भागने के लिए हरकत भी कर रहा हूँ। मैंने बायीं तरफ़ करवट लेने की कोशिश की और एकाध इंच बायें हट जाने में सफल भी हुआ परन्तु चारपाई इतनी छोटी थी वह कि मैं डरने लगा कहीं नीचे नहीं गिर जाऊँ। मैं उनके कंधों पर साधारण आराम से ही सोया था लेकिन वे मुझमें बड़ी ईमानदारी के साथ ढोये जा रहे थे। मुझे सन्देह हुआ कि हो सकता है इन्हें मुझे ढोने का पैसा भी मिला हो इसी कारण ये इतनी वफादारी दिखला रहे हैं अपने काम के प्रति। सरासर तबियत हो रही थी कि गरदन झुकाकर देख लूँ उनके चेहरे लेकिन गरदन बँधी थी और उसका नीचे झुकना सम्भव था ही नहीं। यह ज़रूर मालूम हुआ कि मेरे ज़ोर से हिलने से आगे के सज्जनों का सन्तुलन कुछ बिगड़ा था और वे नाराज़ होकर बोले थे—'ये क्या करते हो यार...?' मैं कुछ बोलने ही वाला था कि पीछे वाला एक आदमी बोल दिया—'थकान से पैर लड़खड़ा गए भाई...।' हिला मैं था और वे चारों ये समझते रहे कि ढोने वालों में से ही किसी एक के पैर लड़खड़ा गये हैं। मेरे सामने अब संगीन समस्या आ गई कि किया क्या जाये। इन लोगों को कैसे मालूम हो कि मैं सोया नहीं हूँ, जग रहा हूँ।... सहसा वे रुक गये। लगा यह कि सभी रूमाल निकालकर अपने पसीने पोंछ रहे हैं, सच ही ये लोग थक गये होंगे। मेरे मन में उनके प्रति सहानुभूति उमड़ आई। जब वे एक से अधिक मिनट खड़े रहे तो यह लगा कि ये थकन के कारण नहीं रुके थे, सामने लाल बत्ती आ गई थी। अजीब-सा भी लगा कि मेरे शरीर को ढोने पर भी ट्रैफिक के कानून का प्रभाव पड़ रहा है। एक नीम उदासी में डूबा ही चाहता था कि याद आया मेरा वज़न तो बहुत कम है—केवल पैंतालीस किलो...और टिकट पर लिखा है—'आज आपकी प्रेमिका आप पर पूरा विश्वास करेगी, आप भी उस पर विश्वास कीजिए...।' वह हँसकर खुद भी मशीन पर चढ़ गई थी। उसका वज़न था पैंतीस किलो और टिकट पर लिखा था—'आप संभलकर रहिये, हो सकता है आपको चाहने वाला धोखा दे दे...।' वह पंक्ति पढ़कर उसने कहा था—'लो, दो धोखा...।' इन्दिरा के कारिडोर में यह उसके कहते ही मैंने उसे चूम लिया था। वह चिढ़कर बोली थी—'यह धोखे का सिनोनिम है क्या?'

और धोखा बोलकर देखा था उसने। 'धो...' उसकी साँसें मुझ पर बिखर गईं, 'खा...' उसके दोनों ओंठ फैल गये और नीचे वाले ओंठ के पास का एक अतिरिक्त दाँत चमक गया। उस दाँत को वह अनइन्वाइटेड टुथ कहा करती है। याद है मुझे जब उसने कहा था कि पापा का सेन्सर और जासूस विभाग बहुत सक्रिय है इन दिनों तो मैं बोला था—'अनइन्वाइटेड नोज़ है यह तो...।'



किसी स्टाप पर बस रुकी हुई है यह लगा था मुझे तभी तो वह सब सोच सका।...इसी कारण जब वे लोग रुकने के बाद मुझे फिर ढोने लगे तो लगा कि बस आगे बढ़ी है। उनके एकदम चलने लगने से हल्का-सा झटका लगा मुझे। मैंने देखा कि उनकी चाल में फुर्ती आ गई है। वे तेज़-तेज़ चलने लगे थे। केवल एक क्षण में मेरे सारे भ्रम दूर हो गये। वे झटके के साथ दाईं ओर घूमे थे और मैंने देखा कि वे लकड़ियों के ढेर के बीच से मुझे ले जा रहे हैं। अब यह सोचने में कोई बात बाकी नहीं रह गई कि ये लोग मुझे ज़िन्दा ही श्मशान में जला देना चाहते हैं। श्मशान के नज़दीक आ जाने से मैं थोड़ा शक्ति-सम्पन्न ज़रूर हुआ कि अब तो कोई न कोई यह ज़रूर कहेगा कि यह आदमी मरा नहीं है और इसे ज़बरदस्ती जलाने के लिए लाया गया है। एक मन यह हुआ ही कि अब इस क्षण कुछ बोलना

ही चाहिए लेकिन सोचा ज़रा एक मिनट रुककर नाटक देख ही लिया जाये कि ये आखिर करना क्या चाहते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि ये मुझे यहाँ जलाने के लिए ही लाये हैं लेकिन एक ज़िन्दा आदमी को जलाने के लिए कैसे लाया जा सकता है यह बात मुझे समझ में नहीं आ रही थी और इसीलिए उत्सुक था कि वह कौन-सी बात है जिससे इन्हें मुझे यहाँ तक उठा लाने के लिए मजबूर कर दिया। वे सहसा रुक गये। कोई बोला—'आगे मत बढ़िये, क्यू में लगिये। देखते नहीं हैं आगे अभी बीस लाशें लगी हैं, आपका नम्बर इक्कीसवाँ है।'...मैं देख नहीं पा रहा था लेकिन इक्कीसवें नम्बर पर जलने के लिए क्यू में रखे जाने पर अटपटा ज़रूर लगा। नरक भी तो इक्कीस होते हैं मनुस्मृति और भागवत दोनों में। सोचने लगा—पता नहीं, बीस लाशें किस-किस की हैं। जैसे कई बार रेलवे स्टेशन पर या सिनेमा हाल में लाइन में खड़े-खड़े आगे-पीछे लोगों से पहचान नहीं कर लेते हैं वैसी ही मेरी तबियत हो रही थी कि आगे कौन है यह जान लूँ लेकिन अपनी औक़ात का ख्याल आते ही मैं शिथिल हो गया। सहसा पीछे से धक्का आ गया यानी एक कोई और लाश भी मेरे पीछे आ गई थी। मैं सोचने लगा कि उसका नम्बर बाईसवाँ होगा। गरदन मेरी घूम रही थी और जानना यह चाहता था कि क्या मेरे जैसा ही कोई और केस नहीं है कि एक जैसे अगर दो भी मिल गये तो यहाँ हल्ला मचाकर किसी तरह छूट भागूँ।...बातों से यह लगा कि उन चारों के पास आकर कोई इंस्पेक्टर रुका है, शायद उसी कोटि का कोई आदमी रहा होगा जैसा बस में चैकर हुआ करता है। उसने सबसे आगे वाले आदमी से पूछा—'डेथ-सर्टिफिकेट लाये हो।...' शायद मुझे ढोने वाला उसका प्रश्न समझा नहीं और सच तो यह कि उसके इस प्रश्न से मुझे मॉरल सपोर्ट मिला था। मैं जब मरा नहीं हूँ तो ये डेथ-सर्टिसिकेट ये दे नहीं सकेंगे और मैं खुद तब बोल उठूँगा कि इन लोगों ने ज़ोर-ज़बरदस्ती की है मेरे साथ। हालाँकि मुझे तो कुछ याद ही नहीं। मेरी तो अगर आँखें न खुली होतीं तो पता भी नहीं लगता कि ये मुझे कहाँ ले आये हैं - शायद तब मुझे होश आता जब मेरा शरीर जलने लगता। उस आँच से मेरी नींद ज़रूर टूटती। जो हो, इस इन्स्पेक्टर ने यह अच्छा किया जो यह आ गया। मुझे उठाने वाले चारों आदमी

उससे चौकन्ने हो गए थे। पीछे वाला अधिक अनुभवी लगा, उसने जवाव दिया—'हाँ, लाए हैं।'...यह सुनकर मुझे एकदम यह स्वीकार कर लेना चाहिए था कि मैं मर गया हूँ लेकिन सन्देह करने की आदत जो पड़ गई है। मुझे यह लगा कि यह आदमी झूठ बोला है। मैं जब मरा ही नहीं तो यह कैसे हो सकता है कि इन्हें मेरा डेथ-सर्टिफिकेट मिल जाए?...डर केवल यह लगा कि ये चारों बड़े तेज़ आदमी हैं, कहीं ऐसा नहीं हो कि ये इस इन्स्पेक्टर को दो-चार रुपये देकर मामला ठीक करते या यही न हो कि ये कहीं से किसी डाक्टर से झूठा डेथ-सर्टिफिकेट ले आयें...! पता नहीं वह इन्स्पेक्टर फुरसत में था या क्या कि मेरी तरफ देखकर बोला—'यह तो जवान आदमी है, मर कैसे गया, कहीं कोई गंडोगोल तो नहीं...?'

'नहीं नहीं, कोई गंडोगोल नहीं है, जवान आदमी तो है, बहुत प्यारा आदमी भी था।' यह कहा घुँघराले बालों वालों ने। मैंने इस बात पर ध्यान दिया था कि यह वाक्य कौन बोला है क्योंकि पहले कभी किसी ने मुझे प्यारा आदमी कहा ही नहीं। यही कारण था कि अपने बारे में कुछ सुनने की ललक मेरे मन में आ गई थी। मुझे लगा कि ये चारों बारी-बारी से मेरे बारे में कुछ कहेंगे। हो सकता है पीछे कुछ लोग और हों और यहाँ ये लोग कोई छोटी-सी शोक सभा कर लें लगे हाथ ही। इस जगह मैंने अपने आपको भाग्यवान भी समझा कि मैं दुनिया का पहला व्यक्ति होऊँगा जिसे अपनी शोक सभा में उपस्थित रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो।...

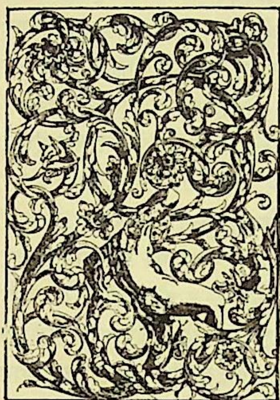
'इस आदमी का अजीब किस्सा है, यह खुद कई बार पसीने में नहाकर या यह कहें कि लड़ते-लड़ते थककर कहा करता था कि मैं मर गया हूँ लेकिन किसीने इसकी बात को माना नहीं। लेकिन आज का दिन ऐसा आया कि इसकी मृत्यु को स्वीकार करना पड़ा है।' सबसे ठिगना आदमी यह बोला था और उसकी आवाज़ करुणा से भीगी हुई थी। उसका उस तरह बोलना मुझे अच्छा लगा।

'हुआ क्या था इसे?' इन्स्पेक्टर ने पूछा और मुझे अच्छी तरह यह लगा कि वह किसी डाक्टर के अन्दाज़ में मेरे सिर पर हाथ रखकर कन्फर्म करेगा कि मैं वाक़ई मरा हूँ या नहीं। उत्तर दिया बंगाली दिखते सज्जन ने—'हुआ-वुआ कुछ भी नहीं। अब ज़िन्दा रहा जब तक ज़िन्दा रहा

और एक दिन जब ये बेहोश हो गया तो हस्पताल में ले गए। बात ये है कि नदी के किनारे कोई मकान बना दो तो बार-बार की बाढ़ से वह कैसे जल्दी ही धँस जाता है वोई ट्राजडी इस आदमी का भी है।'...

'अच्छा तो इसका हार्ट फेल हो गया होगा...?' इन्स्पेक्टर ने फिर पूछा—'लेकिन ये आदमी तो खासा जवान है इसकी आँखें बैंक में क्यों नहीं दे दीं ?...'

'हमने तो कहा था डाक्टर से पर डाक्टर ने ही बताया कि ये इतने हाई पावर का चश्मा लगाता था तो इसकी आँखें किसी काम नहीं आ सकेंगी। डाक्टर ने तो ये भी कहा था कि अगर इसका फेफड़ा काम का होता तो निकाल लेते लेकिन यह आदमी तो मस्तमौला था सिगरेट फूँक-फूँक के सारा फेफड़ा छलनी कर लिया... रहा दिल तो डाक्टर बड़ा मजा-किया था, बोला इसका दिल किसी और आदमी में लगा दिया तो वह भी परेशान होता रहेगा। हमने पूछा इसके दिल में कोई खराबी है तो डाक्टर बोला था इसमें मोहब्बत ही मोहब्बत भरा है, खून तो है ही नहीं। और एक बात सुनेंगे तो आपको विश्वास ही नहीं होगा जब डाक्टर ने यह चाहा कि और कुछ नहीं तो इसका लीवर ही निकाल लें तो पता ये चला कि इसमें लीवर है ही नहीं वह तो ग़ायब ही हो गया, इसने साले ने इतनी शराब पी है कि ये बग़ैर लीवर के ज़िन्दा रहता था...।'



मैं आश्चर्य से भरा यह सब सुन रहा था। अपने ही बारे में ये जो तथ्य यह आदमी बतला रहा है और मैं सुन रहा हूँ, ये सब तो सही है। उन दिन वह नहीं आई थी और सोये-सोये पसीने में नहाकर डाक्टर बसु के पास पहुँच गया था मैं। मुझे उसने कई बार बतलाया है कि मैं जब तक अकेला रहना बन्द नहीं करूँगा स्वस्थ नहीं रह पाऊँगा। कई बार मैं बोला हूँ—'डाक्टर बाबू कभी तो आप वकीलों की तरह बात करते हैं और कभी मेरे पिता की तरह, आप कभी डाक्टर होकर भी तो बोलिए। मुझे सुबह-शाम कुछ न कुछ हो जाता है और मैं चाहता हूँ कि आप कोई ऐसी दवाई बताएँ जिससे मैं मोटा हो जाऊँ, हमेशा हँसता रहूँ, मेरा हर रविवार खुश-क़िस्मत हो जाये, मैं जब भी अकेला रहूँ परेशान न हो पाऊँ...।' डाक्टर हँस दिया था—'मैं मैस्मेरिज्म तो जानता नहीं कि ये सब कर दूँ।' इसके साथ ही उसने कहा था—'हाँ, मेरी कोई लड़की होती उसकी शादी तुमसे कर देता। तब तुम हँसते रहते, तुम्हारा सण्डे खुश हो जाता और तुम्हारे बुश्शर्ट हमेशा धुले हुए रहते।' मुझे डाक्टर का मज़ाक अच्छा नहीं लगा था...। मैं जब उसके सामने बैठा-बैठा गंभीर हो गया तो वह बोला था—'देखो, लंग्ज़ फांका हो गये हैं। लीवर थिक कर गया है, ब्लडप्रेशर तीस ज़्यादा है।...' मुझे अजीब लगा था कि जब शारीरिक रूप से मुझमें इतनी

सारी गड़बड़ियाँ हैं तो मैं ज़िन्दा कैसे हूँ...? डाक्टर से जब यह पूछा तो वह दार्शनिक हो गया था—'आदमी जो शराबी होता है उसका जब लीवर गायब हो जाता है तो वह लिकर-लीवर डेवलप कर लेता है और ठाठ से ज़िन्दा रहता है। वैसे ही तुममें भी कुछ है—वो ज़िन्दा रहने की इच्छा है ना या जो भी हो...इसी वास्ते कहता है कि ये जो एनानिमस लीवर तुममें पैदा हो गया है अब उसको ज़िन्दा रखो...' मैं गहरे सोच में डूबा जब घर बैठा था तो गुड्डम आ गई थी। आते ही बोली—'तुम फिर डाक्टर के यहाँ तो नहीं गये ?' मैं चुप ही रहा। पूछा तो यह—तुम गई थीं ?' उसने उत्तर दिया—'हाँ डाक्टर कहता है, शादी कर लो, सब ठीक हो जायेगा। शादी कोई इलाज है क्या ? मैंने उत्तर नहीं दिया था लेकिन अपने डाक्टर की बातों में उलझा-उलझा ही बोला था—'डाक्टर कहता है कि मैंने एक अज्ञात लीवर डेवलप कर लिया है और उसी के कारण मैं ज़िन्दा हूँ। पता नहीं वह है क्या ?...' मेरी बात पर हँसकर उसने मुझे चूमते हुए उठा दिया था—'तुम्हारा लीवर तो मेरा नाम है...।' सच, सारी उदासी में से बाँह पकड़-कर उसने मुझे उठा दिया। जैसे तेज़ हवा में पत्ते झड़ जाया करते हैं वैसी ही परेशानी मेरे चेहरे पर से झर गई थी। ठीक उस ओठों पर अपनी आँखें रखकर मैंने कुछ महसूस किया था। झुककर उसकी कमर पर गुदगुदी लगा दी थी, वह काँपती हुई दुहरी हो गई थी और बोली थी—'देखो, तुम लीवर का अनुवाद करके वेटर को आर्डर मत देना, जैसे उस दिन मोकम्बो में दे रहे थे कि हाफ प्लेट लीवर लाना...।'

'अच्छा तो आप डेथ-सर्टिफिकेट दिखाइये।'—इन्स्पेक्टर के मुँह से यह सुनकर मैं एकदम गंभीर हो गया। पीछे वाले आदमी ने कागज़ निकालकर दिया। इन्स्पेक्टर ने उसको खोला शायद पढ़ने के बाद यह कहा—'अरे, यह तो अजीब केस है। इस आदमी का हार्ट फेल नहीं हुआ ब्रेन फेल हुआ है...? यह और भी अजीब बात है कि इसमें लिखा है इसकी धड़कनें चल रही हैं लेकिन इसका दिमाग क्रियाशील नहीं है। इसे कुछ घण्टों तक एन्सीफेलोग्राफ की निगरानी में रखा गया है...', 'ये क्या होता है...?'

'ये दिमाग को नापने का यंत्र होता है। डाक्टर ने हमें कहा था कि

यह नई तरह की मौत है, अब दिमाग शायद ही लौटकर आयेगा तो इसे मरा हुआ मान लेने में कोई हर्ज नहीं है। वैसे इसकी धड़कनें चल रही हैं और टेकनिकली यह ज़िंदा है...।'

घुँघराले बालों वाले ने यह कहा और मेरी छाती पर हाथ रख दिया। उन लोगों की गतिविधि को समझने के लिए मैं चुपचाप पड़ा रहा।

'हाँ, इसका दिल तो धड़क रहा है। लेकिन मुझे क्या करना इससे, जब डाक्टर ने डेथ-सर्टिफिकेट दे ही दिया है तो जलाइये और छुट्टी पाइये लेकिन ध्यान रखना कहीं जलते-जलते उठकर खड़ा नहीं हो जाये...।'

'ये क्या उठकर खड़ा होगा, सरासर कमज़ोर आदमी है। जीते जी तो उठकर खड़ा नहीं हो सका, मर कर क्या खड़ा होगा। भगवान इसकी आत्मा को शान्ति दे।...'

यह औपचारिकता पूरी हो गई थी। जैसे कस्टम आफिस के सामने मैं खड़ा कर दिया गया होऊँ और सारे कागज़-पत्र देखे जा रहे हों...। अब उन्होंने कंधे झुकाये और मेरी अर्थी नीचे रखी। डेथ-सर्टिफिकेट के बाद में मैंने यह स्वीकार कर लिया मन ही मन कि मैं सचमुच मर गया था और ये चारों मुझे जलाने आये हैं। ये चारों ज़रूर मेरे परिचित ही होंगे। ये जब मुझे नीचे रख चुके होंगे तो मैं इनके चेहरे पहचानने की कोशिश करूँगा। इनकी बातों से तो स्पष्ट हो गया है कि ये मेरे मरने के क्षण तक मेरे साथ थे और मेरे जीवन के बारे में बहुत कुछ जानते हैं। अब मैं जिसे चारपाई बोलता था उसे अर्थी कहने लगा। वे झुके और मेरी अर्थी नीचे रख दी गई। मेरे चेहरे पर जो उदासी थी वह सहसा एक कुटिल मुस्कान में बदल गई, उसका कारण था इन्हें चौंकाना। जो आदमी दिमाग के सुन्न हो जाने से मरेगा वह गंभीर चेहरा लिये ही मरेगा और इसीलिए मैं मुस्कराहट चेहरे पर ले आया कि इन लोगों पर कुछ तो असर पड़े। लेकिन जब वे मुझे क्यू में रखकर पसीना पोंछ चुके, एक ने मेरी तरफ देखा। मुझे मुस्कराते देख वह दूसरे साथी से बोला—'अरे, यह तो मुस्करा रहा है।...'

'यह साला जिन्दगी भर यही करता रहा, कौन जाने ऊपर दिखती इस हवेली के नीचे एक अन्धा तलघर भी है। ऊपर से मुस्करा रहे हैं और अन्दर आँवा सुलग रहा है। अगर मुस्कान तोड़कर अन्दर की आग ज़रा

भी बाहर आती तो यह उस पर लतीफा फेंक देता या कुछ नहीं होता तो सबसे खबसूरत डिज़ाइन वाला बुश्शर्ट फेंक देता कि आग वहीं की वहीं बैठ जाती। इसकी सारी शक्ति उस तलघर का मुँह बन्द करने में लगी रही।...' जो यह बोला वह कुछ ऐसे मूड में लगा कि वाक्य समाप्त कर लेने के बाद आगे बढ़कर मेरे गाल पर एक चपत लगा देगा और कहेगा—लेटे रहना हम लोग अभी चाय पीकर आते हैं...।' और हुआ भी यही। वे लम्बी क्यू देखकर बोर हो गये थे। एक बोला—'अभी चार घण्टे से कम नहीं लगेंगे।'

दूसरे ने कहा—'न हो, चाय पी लें...।'

तीसरे ने कहा—'चाय ? ...हाँ, पी तो जा सकती है।'

चौथे ने विरोध किया—'इसे यहाँ छोड़कर जाना ठीक नहीं होगा।'

पहले ने सवाल किया—'तो इसमें क्या हर्ज़ है। यह कोई रेलवे स्टेशन तो है नहीं और यह कोई सामान नहीं है कि कोई उठा ले जाये, यह तो लाश है।'

चौथा मान गया—'तो ठीक है, जैसी पंचों की मर्ज़ी...।'

जाते-जाते वे लोग घूमकर मुझ पर एक नज़र डालते गये, इस गरज़ से कि पास वाले किसी से यह कह जायें कि यह हमारी लाश रखी है, ज़रा देखते रहना, अभी आये चाय पीकर...।



जव मैं विश्वस्त हो गया कि वे चले ही गये हैं तो मैंने ठाठ से आँखें खोल लीं। आँखें खोल लेने में मैं घबराया नहीं क्योंकि मैं वैसे भी टेकनिकली तो ज़िन्दा हूँ ही, केवल यह हुआ है कि नये सिद्धान्तों के अनुसार मृत घोषित कर दिया गया हूँ, इस नियम के अनुसार तो हमारे उस भीड़ वाले परिवार के जो बीस वृद्ध लोग सीनियारिटी के हिसाब से अगले दस साल में मरने वाले थे और जिनके कारण हमारा घर टूटते-टूटते टूट ही गया वे सब मृत घोषित किये जा सकते हैं। उनका ज़िन्दा रहना यहीं तक सीमित था ना कि बहू ज़ोर से हँसी तो अन्दर से चिल्लाने लगे, बेटी ने चोटी करने में देर लगा दी तो बाहर दरवाज़े में ताला लगा दिया, लड़का सिनेमा देखने चला गया तो खाँसने लगे और इतनी ज़ोर से खाँसने लगे जैसे अभी के अभी मर जायेंगे। सच तो ये कि वे सब सचमुच ज़िन्दा नहीं थे। तब यह बात होती तो उन बीसों को एक साथ लाइन में लगाया जा सकता था और एक दिन में ही टूटी हुई दीवारों को ठीक किया जा सकता था।...

सामने नज़र गई तो देखा कि एक जवान लड़का खड़ा होकर रो रहा था। उसे कुछ लोग समझाने आ गये। उसे समझाया यह जा रहा है कि हर आदमी का बाप मरता है, यहाँ तक कि राजा राम के बाप भी मरे थे। मैंने अगली बातों पर ध्यान नहीं दिया क्योंकि एक दिन मैं भी इसी तरह फूट-

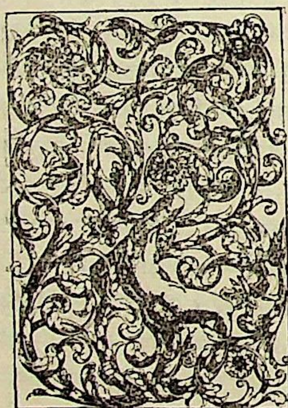
फूटकर श्मशान में रोया था। मैं तो तब अधिक समझदार था और मेरे पिता मरे भी थे सत्तर की उम्र में। लेकिन उनकी कपाल-क्रिया कर देने के बाद उनके वृद्ध शरीर से उठती लपटों को देख मुझे यह लगा था कि मुझे कीचड़ में फँसाकर ये मर गये हैं। जब तक ज़िन्दा रहे मुझे उपदेश देते रहे, जब तक मैं इनका विरोध करता रहा ये एक बार खाना खाते रहे और जब मैंने इनका विरोध बन्द कर दिया, इनका सेरेब्रल हेमरेज हो गया। जब डॉक्टर ने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा था कि इनके दिमाग़ की नस तड़क गई है तो मैं घबरा गया था—'क्या डॉक्टर यह टूटी हुई नस जुड़ नहीं सकती ?...' डॉक्टर ने फिर सहानुभूति दिखाई थी—'अब धैर्यवान और समझदार आदमी की तरह इनकी शवयात्रा की तैयारी करो।...' जब पिता को नर्स ने लाल कम्बल से ढंक दिया था और उनके पलंग को खींचकर बाहर बरामदे में रख दिया गया था तो सारा वार्ड सकते में था। लोगों को आश्चर्य था कि ऐसे चटपट मौत हो कैसे सकती है। मुझे यह लगा था कि मैं कमरे में बैठा था और उसकी छत मेरे ऊपर आ टूटी है। मैंने डॉक्टर से पूछा था—आखिर यह नस तड़क कैसे गई ?' डॉक्टर नाराज़ नहीं हुआ था। इतना ही बोला था—'यह तो तुम जानो...।' मैं चटख-चटखकर जलते उनके शरीर को एकटक देखता जा रहा था। मुझे यह साफ़-साफ़ लगा कि जो बीत गया है उसके लिए रोना ही ये मुझे सिखाते रहे थे। हमारा उतना बड़ा परिवार खण्ड-खण्ड होकर बँट गया था और ये वे उसके लिए दुखी होते रहे। यहाँ तक कि जब ये बोले—'शादी कर लो...' और मैंने कहा था मुझे विवश मत कीजिए तो इनकी आँखों में आँसू आ गये थे—'मेरा तो सबकुछ लुट गया, अगर लगे कि मुझ जैसे टूटे हुए के प्रति भी तुम्हारा कोई कर्तव्य है तो सोचना...।' यही उनकी टेकनिक थी। मुझ जैसे आग लड़के को इसी टेकनिक से उन्होंने पालतू बना लिया था। कहें कि यह करो और मना कर दें तो चुप लगा जाएँगे और साँसें छोड़कर कहेंगे—'ठीक है, मैं कर लेता हूँ।...' आखिर मैं आदमी हूँ, उनके प्रति दया आये बिना नहीं रहती और वे अपना अपेक्षित इसी शैली से करवा लेते। शादी के समय बोले थे—'पिता हूँ तो हूँ। पिता होते ही हैं। अगर तुम्हें किसी और से शादी करनी हो तो कर लेना लेकिन पाँचेक दिन रुक जाओ, मैं ही मर

जाऊँ फिर करना। पाँच दिन भी इसलिए कि सब से मिलजुल लूँ...।' मैं इस बात का क्या उत्तर देता सिवाय इसके कि आप रहिये ज़िन्दा मैं मर जाता हूँ...। शादी पर ज़ोर देने का राज़ बाद में मेरी समझ में आया कि अगर मैंने उनकी इच्छा से शादी न की होती तो वे बँट जाते। माँ का जल्लाद स्वभाव उन्हें फिर अकेले ढोना पड़ता। बड़ी समझ के साथ माँ को मेरे ऊपर डालकर वे रामायण पढ़ने लगे थे। जानता हूँ माँ के बिना उनका निस्तार नहीं लेकिन एक दिन मैंने कहा था—'माँ कैसे मेरी बीबी को निबाह सकेंगी मुझे समझ में नहीं आता। इनका स्वभाव तो ऐसा है कि इनसे घर की दीवारें भी डरती हैं।...' मैं तो चौंक गया सुनकर—'देखो बेटे, तुम्हारी माँ सच ही ऐसी है, मैं तो चाहता हूँ कि वह मर जाये तो ठीक हो।...' मैं तपाक से यह बोला था, 'यह आप क्या कह रहे हैं, ऐसा मत बोलिये। अगर किसी से पटती नहीं तो क्या हम उसके मर जाने की बात सोचने लगें...!' वे चेहरे पर गंगा का पानी ले आये थे—बहुत पवित्र पानी लेकिन यह बाद में मैं समझ पाया कि माँ के प्रति मुझे ज़िम्मेदार बनाने की यह उनकी शैली थी...। मैं जबरदस्ती यह कहने लगा था बार-बार कि माँ को कभी नहीं मरना चाहिये।...और शादी के बाद। जिसको पहली रात कहते हैं, उसने ही मेरा दिमाग़ खराब कर दिया। मैंने उसके कंधे पर हाथ रखा तो उसने कहा—'आप कविता सुनाइये।...' मैं उसकी तरफ देखता रह गया था—'कविता?' कहा नहीं मैंने लेकिन कहना चाहता था—'मैं तो क्लर्क हूँ, कवि नहीं।...' मुझे चुप देख वह बोली थी—'कोई कविता तो याद होगी ही। पहली रात को तो सब कविता सुनाते ही हैं...।' मेरे माथे पर तीन सल आये थे जो अब तैंतीस सलों के रूप में उलझ गये हैं। सुबह मैं घबरा गया था। पिता को अलग ले जाकर मैंने कहा था—'मैं इस लड़की के साथ नहीं रह सकता।...' अब बताइये, वे विचलित नहीं हुए। बोले तो यह—'देखते हैं। ऐसी जल्दी नहीं करते।' मैं एक दिन, दो-तीन चुप रहा। तीन महीने में यह स्थिति हो गई कि मुझे लगा मैंने शादी नहीं की है समाज सुधार का कोई ठेका ले लिया है। होना यह चाहिये था कि जब उन्होंने मेरी शादी करवाई थी तो वे तो उसे चाहते ही लेकिन माँ-पिता दोनों उससे घृणा करने लगे। माँ झन्न से बरतन

गिरा देती और वह चीख पड़ती। पिता खाने पर से उठ जाते और वह रोने लगती। वह नहाने जाये तो, वह खाना खाये तो, सोये तो कुछ न कुछ ऐसा हो जाता कि वह बैठकर सुबकने लगती। स्थिति यह आ गई कि मैंने पिता से एक दिन कह दिया—'अगर यह घर आपको पसंद नहीं है तो हम कुछ और करें!...' कहाँ तो मैं उनसे नाराज़ी की अपेक्षा कर रहा था और कहाँ वे बेहद सहजता के साथ बोले—'कोई बात नहीं। हम कुछ समय इन्दौर जाकर रहेंगे हमारा मन भी बहल जायेगा। है भी चातुर्मास, तुम्हारी माँ को भी वहाँ पूजा-पाठ में सुविधा रहेगी।...' वे सचमुच चले भी गये और वहाँ जाकर दो-चार रिश्तेदारों से यह कहा कि कोई नई बात तो हुई नहीं हमारे घर में जो दुख मनायें। अब बेटे को बहू प्यारी है तो इसमें क्या बुरा है, रहे वे दोनों सुखी लोगों की तरह। हमारी तो उम्र वैसे भी पक गई है।...एक दिन मैं आफिस से तो लौटा तो पत्नी चेहरे पर गुस्सा लिए बैठी थी। बोली—'माँ का ख़त आया है और लिखा है उसमें कि बेटे को संभाल-कर रखना इसकी भटकने की आदत है। कॉलेज के दिनों के किस्से तो सुने ही होंगे...।' इसका परिणाम ये हुआ कि मेरा उठना-बैठना हराम हो गया। मैंने घबराकर पिता को तार किया कि वे आ जायें क्योंकि अकेले मेरे लिए इसके विराट रूप को सम्भालना भी मुश्किल है। सवेरे उनको तार मिला होगा और वे शाम को आ भी गये मैं खाना खाते बोला था—'मैं तो बड़ी मुश्किल में फँस गया हूँ।' पिता हँस दिये—'इसमें क्या मुश्किल है, बच्चे सभी के यहाँ पैदा होते हैं।...मेरा मुँह का कौर मुँह में ही रह गया था। कुछ कहते नहीं बना था। बाद में मैं फिर बोला था—'इस औरत के साथ मैं नहीं रह सकता...।' पिता मुझसे सहमत होकर बोले थे—'तुम ठीक कहते हो लेकिन मुश्किल यह है कि यह प्रैगनेंट है और इसे ऐसी हालत में...।' पिता मेरा चेहरा देखने लगे थे। रुककर कहा था—'डॉक्टर से पूछूँ न हो तो कि यह अगर वहीं और रहे...।' मुझे पिता का यह कथन बड़ा मूर्खतापूर्ण लगा था। मैं चिढ़कर बोला था—'इसमें डॉक्टर से पूछने की क्या बात है। ऐसी हालत में तो इसे कुछ कहा नहीं जा सकता। बाहर के लोग हंगामा नहीं मचा देंगे...।' पिता तपाक से बोले—'हाँ, मैं तो सठिया ही गया हूँ, मेरी तो दूर दृष्टि हीगायब हो गई है, सामाजिक प्रतिष्ठा

भी तो कोई चीज़ हैं...।' सहसा युद्ध-विराम हो गया था। वह डॉक्टर की सलाह के अनुसार कमरे में बच्चों की तसवीरें लगाने लगी थी, पिता और माँ चुप हो गये थे और उनके चेहरे ऐसे बन गये थे कि जैसे वे हम पर एहसान कर रहे हों। माँ को पुजारिन से यह कहते मैंने सुना भी था—'हम तो चले ही गये थे पर क्या करें। बेटा दिल का टुकड़ा होता है और उसके लिए आए दौड़कर और अब बहू के पाँव भारी हैं। मूल से हमें तो ब्याज प्यारी है। बहू जन ले तो फिर चले जायेंगे हम तो। मैं तो ठाकुरजी को भी वहीं छोड़ आई हूँ, अब वे इस कांकड़ नहीं चढ़ेंगे।...' इसी तरह खुली हुई आँखों से सोये-सोये उस रात मैंने महसूस किया था कि मेरे माँ-पिता घाघ किस्म के षडयंत्री हैं। ये ऐसा ही करते जा रहे हैं जैसे कोई दलदल में फँसा हो और उसे पैर जमाकर ऊपर उठने की सलाह दी जाए...। घर में बच्चा आ गया था। एक अजीब भाव मेरे मन में था कि मैं पिता हूँ जबकि पति होना भी भारी पड़ रहा था मेरे लिए। बरामदे में पिता बैठे थे। माँ ने कुछ कहा—'ऐसी बहू से तो मेरा बेटा क्वांरा ही रहता...।' वह बोली—'ऐसे घर में रहने से जंगल में रहना अच्छा है।' मैं चीख उठा था—'मैं मर जाऊँगा इस घर में...।' तूफान था कि उस बरामदे में घिर गया था। पिता रामायण खोलकर दशरथ की मौत वाला हिस्सा पढ़ने लगे। मेरे सिर पर हथौड़े चलने लगे। वह जमकर बोली थी—'दशरथ पानी वाला आदमी था जो बीबी की नालायकी के कारण मर गया...।' पिता पहली बार बोले थे, आवाज़ उतनी ही शान्त थी—'मैं होता बेटी तो ऐसी बीबी की जाँघ पर लात रखकर उसके दो टुकड़े कर देता...।' यह सुनते माँ ने सिर फोड़ लिया था—'तुम कौन होते हो मेरे टुकड़े करने वाले। यहाँ तो उल्टा हो रहा है कि दशरथ की साँठ-गाँठ से राम-सीता माँ की जान के दुश्मन हो रहे हैं। लो मारो मुझे...।' सचमुच पिता शान्तिपूर्वक उठे थे और उन्होंने माँ को एक चपत लगा दी थी। सारी छत घूम गई थी एक क्षण में। माँ को मैंने अलग किया था। पिता की तरफ़ गुर्राकर मैंने देखा था। पत्नी का चेहरा तन गया था और पिता बच्चे को उठाकर घूमने लगे थे। उनके चेहरे की नसें खिच गई थीं। मुझे साफ़-साफ़ लगा कि वे इन्दौर गए ही इसलिए थे कि मैं पिता बन जाऊँ...कि मैं घबराकर उन्हें तार करूँ...कि

माँ हम पर अहसान बतायें...। पिता ने इस समय भी माँ को मारा थोड़े है, मुझे हुमिलिएट किया है कि औरत के सामने मर्द ऐसे पेश आता है, ये दोनों जो पत्नी से नाराज़ रहते हैं वह तो इसलिए कि मैं प्रतिक्रिया में उसके पक्ष में बोलने लगूँ...। मैं बोला था—'यह घर तो अब मर जायेगा...।' पत्नी ने ठीक मेरे बाद ज़ोर से साँसें छोड़कर तीखी बात कही थी—'मर जायेगा नहीं, मर चुका...।' माँ ने आँसू पोंछे थे और बच्चा ज़ोर से चीखा था, वह पिता के हाथ से छूट गिरा था। वे लड़खड़ाये थे और कमरे के सारे दरवाज़े डर गए थे। जब चिता जल चुकी और तीसरे दिन अस्थिविसर्जन के लिए हम नर्मदा गए तो उनके सिर की हड्डी मेरे हाथ में आ गई थी, वह ठीक से जल नहीं पाई थी, जिस आदमी की मौत सिर की नस तड़कने के कारण हुई हो उसके सिर की हड्डी इतनी पक्की है कि वह एक किलो घी की कपाल-क्रिया से भी जल नहीं पाई...? राख पलक झपकते बह गई थी लेकिन मुझे लगा था कि उनकी नसों में खून नहीं बहता था, केलकूलेशन बहता था और जिस बिन्दु पर वह ग़लत हुआ, वहीं क्लॉट आ गया, उसी क्षण हेमरेज हो गया।...



जो जल रही थी वह लाश जल चुकी, उस रोते हुए जवान लड़के ने आँखें भी पोंछ लीं। मेरी ही तरह यह मी बदल जायेगा। याद है मुझे अस्थि-

विसर्जन के बाद नहाने के बजाय उस राख से लिथड़े हुए हाथों से ही मैंने किनारे पर आकर खरबूजा खरीदा था और उसकी छोटी-छोटी फाँकें तराश-तराश कर खाता रहा था। खरबूजे के हाथ ज़रूर धोये थे लेकिन अस्थिविसर्जन के हाथ मैंने आज तक नहीं धोये...यही नहीं, होशंगाबाद के उस छोटे से स्टेशन पर मैं खूब ज़ोर से हँसा भी था...।

सहसा लाशें उठा-उठाकर आगे बढ़ाई जाने लगीं। बीस लाशें आगे हट गईं तो लोग मेरी तरफ़ देखने लगे लेकिन मुझे उठाने वाले चाय पीने गये हैं। मेरी तबियत यह हो रही है कि खुद ही उठकर आगे बढ़ जाऊँ लेकिन मैं तो बँधा हुआ हूँ और मेरे लिए वैसा करना संभव भी नहीं है। पीछे की लाश वाले दो-चार मिनट तो मेरी तरफ़ देखते रहे कि कोई आता होगा इसे उठाने के लिए लेकिन जब कोई आया ही नहीं तो वे बेसब्र हो गए और आगे खाली जगह पर अपनी लाश को ले जाकर रख दिया। किसी ने कहा भी कि ये क्या करते हो तो भी वे नहीं माने और आगे बढ़ ही गए। इसका मतलब यह हुआ कि मैं फिर इक्कीसवें नम्बर पर ही रह गया। मुझे खुद बुरा लगा कि ज़बरदस्ती एक नम्बर पीछे हो जाना पड़ा है लेकिन सोचने पर यह लगा कि यह तो अच्छा ही हुआ जो मैं पीछे रह गया। मेरी रुचि जहाँ-तहाँ जल जाने में तो है ही नहीं। मैं तो इस बंधन से निकल भागना चाहता हूँ कि अकारण ही जो मैं मृत घोषित कर दिया गया हूँ, उस दुर्भाग्य से बच सकूँ। मैंने एक बार फिर कसमसाकर देखा और पाया कि अगर एकाध घण्टे कोशिश करूँ तो बड़े आराम से ये रस्सियाँ तुड़ा सकता हूँ। वैसे रस्सियाँ तुड़ाने की बात सोचना कोई नई बात नहीं है मेरे लिए। मुझे ऐसा लग रहा है कि जनमा हूँ तबसे ही रस्सी तोड़ने की कोशिश में लगा हुआ हूँ। वैसे कई बार यह हुआ है कि रस्सी नहीं तुड़ा पाने के कारण जो भी बंधन सामने आया है उसीको स्वीकार कर लिया है लेकिन वह हमेशा अन्तिम विवशता रही है। यह सोचने की बात है कि किसी कमरे से भागने, किसी जेल की दीवार को फाँदने या किसी शहर को छोड़ देने या मन नहीं लगने के कारण नौकरी त्याग देने से यह बंधन कहाँ और कई मानी में बड़ा है। वैसे दुनिया का कोई आदमी ऐसी स्थिति में पड़ा या फँसा भी नहीं होगा। अपने देश में तो ऐसा हो अगर तो लोग मरने

वाले को भूतप्रेत समझने लगेंगे और कोई अगर मरकर जी भी उठे तो वह प्रेत कहलाये जाने के डर से मरा ही रहेगा, जी उठने की हरकत भी नहीं करेगा भय के कारण ही कितने सारे ऐसे काम हैं जिन्हें हम आप नहीं करते, भले ही उन्हें ठीक और तर्कसंगत मानते हों। लेकिन ये सब फालतू बातें हैं और उनपर सोचने का अवसर यह नहीं है। मैं तो केवल इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ कि मैं मर गया था अगर तो उसे स्वीकार कर लेने में मेरी कोई हेटी नहीं है लेकिन जब जीवित हो गया हूँ या संयोग से जीवित हो उठा हूँ तो मुझे इस अर्थी से मुक्ति मिलनी चाहिए। उठने की निरर्थक कोशिश करते मैंने गरदन घुमाने की चेष्टा की, केवल इसलिए कि यह जान सकूँ वे चारों आ गए हैं या नहीं। मेरे मन में यह विचार ज़रूर आया कि कहीं ऐसा न हो कि वे मुझे छोड़कर ही चले गए हों और यह सोचकर कि चलो मुक्ति मिली, कहीं उन लोगों ने आने का इरादा ही त्याग न दिया हो। वैसी स्थिति में मेरी लाश लावारिश हो जाएगी और मुझे सरकारी टीटमेंट मिलेगा। सरकारी अन्त्येष्टि बड़ी औपचारिक होती है। दाग़ देने वाला चाहे तो चिता पर आग लगाते कोई फ़िल्मी गाना भी गा सकता है। जो हो, चाहे जितना साधारण आदमी रहा हूँ अपने जीते जी लेकिन मेरी मौत ऐसी नामालूम हो जाये इसकी कल्पना भी मुझे अच्छी नहीं लगती है। और यह सही है कि किसी मौत को भी मैंने इस तरह नहीं लिया कि उसे कैसे भी जला देने की बात सोचूँ या उसकी मौत को महत्व नहीं दूँ। आज तो कह ही सकता हूँ कि मौत से अधिक आत्म-हत्याएँ मेरे सिर पर सवार रही हैं। याद करता हूँ तो यह साफ लगता है कि जीवन का एक साल मैंने ऐसे गुज़ारा है जैसे किसी टूटे हुए घर में बैठा होऊँ और यह प्रतीक्षा कर रहा होऊँ कि अब छत गिरी, अब दीवारें अर्राईं, अब ऊपर का लदाव मेरी सिर पर बरसा, अब एक-एक ईंट मेरे ऊपर खिसकर आईं।...अभी उस दिन उसने कहा था कि तुम सचमुच सरासर निर्मम हो गए हो। हम तो यह सोचते हैं कभी लेखक होते तो इस शीर्षक से कहानी लिखते और तुम्हें हीरो बना डालते।...तटस्थता में मीलों दूर चला आया हूँ ना तो अब किसी भी बात पर हल्की-सी टिप्पणी जड़ देना मेरा व्यसन हो गया है। बोला या मैं—'मंजूर है लेकिन फिर मत कहना कि हमारा भुरता बना

दिया।' उसने अपने आपको मेरे हाथों से छुड़ाकर कहा था—'हटो भी। हमें जीते जी ही बैंगन और भुरता समझते रहे हो। मर जायेंगे तो क्या करोगे? तुम इतने निर्मम हो कि मर गए तो एक खट्टी डकार लेकर फ्रूट साल्ट पी लोगे।...' मैं गुड्डम की तरफ़ देखता रह गया था। कहाँ तो शरारत कर रहा था और कहाँ सहसा शिथिल हो गया। कहीं गहरे में डूबकर बोला था—मैंने केवल सत्ताईस साल की उम्र में इतने सदमे झेले हैं कि हर सदमे ने मुझे काटा है। हर बात मुझ पर तेज़ धार वाले चाकू की तरह आकर गिरी है। मेरा एक-एक टुकड़ा कट-कटकर गिरता जा रहा है।...' उसने अपनी आदत के अनुसार मेरे बालों की लहरों को गिनना शुरू कर दिया था। चार तक गिनकर बोली थी—'यह तो तुम कहना चाहते हो न कि टूटे हुए आदमी हो...?'

'नहीं। यह तो मैंने कभी नहीं कहा। वैसे भी मैं क्राकरी या गिलास वर्क नहीं हूँ जो टूट जाऊँ। मैं तो कह रहा हूँ ना कोई मुझे क़ाटता जा रहा हूँ और वैसे कटने के कारण मैं पाव रोटी तो हूँ नहीं कि स्लाइसों में बिखर जाऊँ। और यह बात भी नहीं है कि यह कटना छिलके की तरह उतरता हो क्योंकि मैं आलू प्याज भी नहीं हूँ...।' मैं बेहद गंभीर होकर बोल रहा था लेकिन उसने टोक दिया—'तुम इस समय तो चाकबार हो।' उसने केवल कहा ही नहीं, मुझे चूम भी लिया, उसी तरह जैसे चाकबार को फुरसत के समय खाया जाता है। मैं ऊपर उठ गया था। कई बार मैंने महसूस किया है कि मैं कितनी ही परेशानी में क्यों न डूबा होऊँ, वह बाँह पकड़ कर उठा दिया करती है। उस बिन्दु पर मैं सोचता ही रह जाता हूँ।...लेकिन पहले ऐसा भी हुआ है कि मैं अपने आपसे ही मुक्त नहीं हो पाता था। अब वे दिन याद आते हैं तो ऐसे ही मैं उन दिनों की चर्चा करने लगता हूँ जैसे किसी जले हुए घर या बीती हुई ट्रेन दुर्घटना के बारे में हम सोचने लगें...। सबेरे मैं पाँच बजे से उठ बैठता था। उठता ही नहीं था स्टोव जलाता और चाय भी बना देता। पत्नी को सवेरे आवाज़ देकर जगाना मैंने बन्द कर दिया था। मेरा दिन वैसे ही शुरू होता जैसे किसी विधुर का दिन हो वह। उसे जैसे यह अहसास बार बार खाता रहता है कि मेरी पत्नी मर गई है वैसे ही मुझे यह हमेशा याद रहता कि मेरी पत्नी

ज़िन्दा ही नहीं है मेरा ज़िन्दा रहना भी मुश्किल कर रही है। एक बार एक दोस्त दिल्ली से आया था और उसकी खातिर में मैंने एक शाम बिताई थी। उसे मालूम था कि मैं कितना परेशान हूँ अपनी पत्नी से। वह खुद भी भोगा हुआ आदमी था। मेरे मन में सहसा यह इच्छा जागी थी कि इससे बात करूँगा अपनी समस्या के बारे में। उसने पहला घूँट पीते हुए कहा था—'आज मैं तुम्हारे दिमाग़ से पत्नी को निकाल कर रहूँगा।... उसका वाक्य कहते मेरे माथे के सल सिकुड़ने लगे थे। प्याले से उठकर शराब जैसे अपने आप मेरे मुँह में जा रही थी—मैं उस प्याले की गहराई में डूब गया था। वह शाम : मैं घर गया तो मेज़ पर चिट पड़ी थी—'मैं जा रही हूँ...।' मैं सहसा परेशान हो गया था। कमरे-कमरे ढूँढ़ा उसे। बाहर देखा, अड़ोस-पड़ोस में पूछा। समझ नहीं पा रहा था कि कहाँ गई होगी। इतना बड़ा कलकत्ता, कोई कहीं चला जाये तो उसे ढूँढ़ो ही कैसे...। टार्च मेरे हाथ में था और मैं पागलों की तरह पार्क-पार्क ढूँढ़ता फिर रहा था उसे। रात नौ बजे एक बार घर लौटा कि उसे देख लूँ लौटी या नहीं लौटी फिर पुलिस स्टेशन जाऊँ...। घर आया तो पता लगा कि वह अभी-अभी लौटी है—मैं ज़ोर से चीखा था—'कहाँ चली गई थीं?'

'काली मन्दिर।'

'उस चिट में क्यों नहीं लिख दिया?'

'तब लौटकर आने का इरादा नहीं था...।'

'फिर?'

'अपने बच्चे की याद आ गई...।'

'मेरी याद नहीं आई?'

'उसका सवाल ही नहीं उठता...।'

मैं गुस्से में उबल रहा था कि आफ़िस से लौटते ही मुझे कितनी परेशानी उठानी पड़ी लेकिन इस पर कोई असर नहीं। पूछा तो यह—'खाना खायें तो बना दूँ...?'

आया तब जोरों की भूख लगी। लेकिन उसकी इस हरकत ने परेशान कर दिया—। मैं उसी तैश में बोला था—तुम्हें मुझे परेशान करने में आखिर क्या मिलता है?

उसने मेरी तरफ सिर उठाकर देखा था—'मालूम हो जाएगा।...'

अब भी मेरे सिर पर झुर्रियाँ हैं और तब भी थीं। दूसरे दिन वह सिर बाँधे सोई थी। पास में फ्लिट का डिब्बा पड़ा था। उसने इतना ही कहा—'मैंने फ्लिट पी लिया है।' बेहताशा घबराहट में मैं टैक्सी लाया था और उसे अस्पताल ले गया था। घण्टे-भर तक उसका ब्लडप्रेशर देखा जाता रहा, उसकी नब्ज़ के उतार-चढ़ाव देखे जाते रहे, उसे उल्टी करने के लिए दवाइयाँ दी जाती रहीं।...दूसरे दिन जब वह ठीक हो गई तो एक अलग कमरा उसने ले लिया। उसका सब सामान उसने उसमें रख लिया। मेरा एक जीवन आफ़िस की भागदौड़ वाला जीवन था और दूसरा पत्नी की आत्महत्या बचाने वाला। मैं जैसे फिर बँट गया था मेरा सिर सोचते-सोचते फटने को आ गया था। मुझे डर लगने लगा कि कहीं मैं भी सेरेब्रल हेमरेज से ही न मरूँ...।

'तो ?' मैंने अन्तिम बार पूछा था यह पूछने वाला समूचा मैं नहीं था, मेरा एक टुकड़ा था जो उससे लड़ते-लड़ते हार गया था। कई बार शेव करते मैंने सोचा है—आखिर किया क्या जाये...? उत्तर में हमेशा कट लग गया है। तभी तो मैंने आखिरी ताकत से पूछा—'तो ?' देखो दस बार कोशिश की है मैंने कि यह घर चल सके लेकिन यह चलता नहीं। क्या करें अब...?'

'करना क्या है। जो कुछ करना है वह तो किया जा चुका है। अब क़ानूनी बात पर आइये। मैंने भाई को तार किया है। मैं वहाँ चली जाऊँगी और हमेशा वहीं रहूँगी।'

'मैं क्या कहूँ। फिर यही जब करना है तो तलाक़ ले लो और जी चाहे तो शादी कर लो फिर से।'

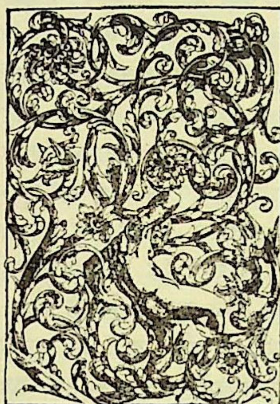
'एक ही शादी से तबियत भर गई ना जो अब फिर शादी करके प्रोग्रेसिव कहलायें। मैं तलाक़ देकर क्यों आपकी बदनामी करवाऊँ ?'

'जब सब चीज़ें ही तुम तोड़ देना चाहती हो फिर वह कौन-सी चीज़ है जो तुम इस डोर को बनाये रखना चाहती हो ?'

'और जब मैं आंपकी नज़र के सामने से हमेशा के लिए चली जा रही हूँ तो वह कौन-सी बात है जो आप इस डोर को भी तोड़ देना चाहते

हैं...?'

हम दोनों चुप थे। और दूसरे दिन स्टेशन पर मैं उसे विदा करता खड़ा था। जाने क्या हुआ कि उसने सहसा मेरे पैर पकड़ लिए थे—'क्या मुझे क्षमा कर सकते हो?' मैं उसकी आँखों में आँसू देखकर चौंक उठा था। वही फिर बोली थी—'शायद तुम्हें मुझ-जैसी पत्नी की ज़रूरत नहीं है। मैं तुम्हारे घर किसी आया या बरौनी की तरह भी रह सकती हूँ...' वाक्य सुनकर मैं बिखर गया था—'मैंने तुम्हें पत्नी का दर्जा दिया। मैंने तुमसे ठीक-ठीक होश में शादी की थी, तुम मुझे बर्दाश्त नहीं कर सकीं तो मैं क्या करूँ?...' मैंने पैर छुड़ा लिए थे—'मुझे अब कमज़ोर मत करो। मुझे अगर ज़िन्दा देखना चाहती हो तो मुझे आदमी समझकर उसी तरह का बरताव करो...।' सहसा सिसकियाँ बिखर गई थीं—'ठीक है। तुम किसी और के साथ अगर रहना चाहो तो रहना। मैं रास्ते से हट गई हूँ।...' मैं स्टेशन की भीड़ के बीच अकेला हो गया था। जैसे अब माँ-बाप का मैं स्पष्ट विश्लेषण कर सकता हूँ वैसे ही पत्नी के बारे में साफ़-साफ़ बातें कह सकता हूँ—केवल एक पंक्ति : उसकी दृष्टि में मैं एक नाकाबिल आदमी था...और मैं उसे अपनी कोटि का ही नाकाबिल बनाना चाहता था। जिसके लिए वह विद्रोह कर उठी थी...। ट्रेन चली गई जब तो मैं व्यावहारिक नहीं रह पाया था। मुझे यह बात सच लगी थी कि किसी जीवित व्यक्ति को भुला देना किसी मृत आदमी को भुलाने से अधिक मुश्किल काम है...। यह सब सोचते-सोचते मेरे माथे की सलवटें एक-दूसरे से उलझ गई थीं।...मैं अपने दोस्त के सामने बैठा-बैठा दोनों हाथों की उँगलियों से उन उलझी हुई झुर्रियों को अलग करने में लगा रहा लेकिन वे अलग नहीं हो पाईं। दोस्त ने पूछा—'क्या हुग्रा?' जवाब दिया मैंने—'वह पत्नी...।' वह खुद भी पीये था, बोला—'हटा यार, पत्नी के बच्चे...।' इस गाली से मेरी झुर्रियाँ एक-दूसरे से छूट गई थीं।...मुझे अब यह लगने लगा है कि कोई मेरी मृत्यु पर भी मोटी-सी गाली दे दे तो निश्चित ही ये रस्सियाँ अपने आप खुल जायेंगी। मैं अन्दर ही अन्दर कसमसा रहा हूँ लेकिन वे चार ऐसे गये कि पता ही नहीं लगा उनका। कहीं यही बात तो सही नहीं है कि वे मुझे यहाँ पटककर भाग गये हैं...

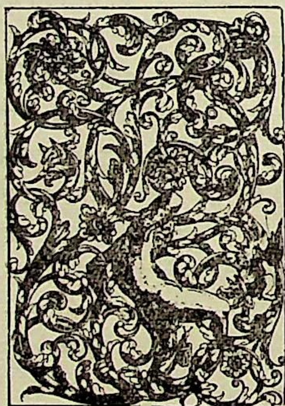


अकस्मात यह तरकीब मेरे हाथ लगी कि थोड़ी देर बाद अँधेरा घिर आयेगा और कोई यह देख नहीं पायेगा कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने ज़ोर से हिल-कर यह पाया कि मेरे कसमसाने से वह अर्थी एकाध इंच इधर-उधर हो जाती है। अगर कुछ देर ज़ोर लगाता रहा तो मेरे हाथ इस अर्थी से बाहर निकल आयेंगे और तब मैं अपने आपको छुड़ाने में समर्थ हो जाऊँगा। एक बार और कोशिश करके जैसे ही मैं हिला तो पाया कि मेरी अर्थी पीछे की तरफ़ हट गई है। मुझे यह बहुत अच्छा लगा। अगर वे लोग और कुछ देर नहीं आते हैं तो मैं अपनी सारी कोशिश सहित इस रस्सी को खोल डालूँगा। कोई और जगह होती तो मैं पास वाले आदमी से सहायता ले लेता लेकिन यहाँ तो आगे-पीछे लाशें ही लाशें हैं, किससे क्या कहें ? आज स्थिति उल्टी हो गई है कि मैं मृत घोषित हो जाने पर भी यह संघर्ष कर रहा हूँ कि मैं मरा नहीं हूँ लेकिन यह कई वर्षों से मैं अनुभव करता रहा हूँ कि बहुत समय पहले ही मैं मर चुका हूँ। पिता की विनम्रता के सामने मैं एक दिन शिथिल हुआ था।...हम कहीं जा रहे थे। पत्नी की सालगिरह थी यह या और कोई बात। मैं आफ़िस की चिन्ताओं में डूबा था सो चाहता था कि कोई झगड़ा नहीं हो। वह दिन चुपचाप बीत जाये कि हो गया। जाने को हुए तो पिता बोले—'कहीं जा रहे थे ?...' वाकई कोई कहीं जा रहा

है और वे पूछ रहे हैं कि कहीं जा रहे हो यानी क्यों जा रहे हो। मैं चुपचाप उनके सामने खड़ा था-—'हाँ, जा तो रहे हैं।' वे धीरे से बोले थे—'मैं कोई जाने को मना नहीं करता।' मैं वैसे ही कहीं जाने से घबड़ाता हूँ, खासकर पत्नी के साथ। दो कदम आगे बढ़ते ही कोई न कोई बात आ जाती है और हम लोग दुश्मन हो जाते हैं एक दूसरे के। हम जब दरवाज़े से बाहर निकले तो वे फिर बोले—'पन्द्रह-बीस मिनट में तो लौट आओगे ना...?' मैंने घूमकर उनकी तरफ देखा था। वे फिर बोले—'जाओ, जाओ...।' सहसा मुझे यह लगा कि उठने-बैठने पर भी ये तंग करते रहते हैं। मैं एकदम घूम गया—'नहीं जायेंगे।' पिता के चेहरे पर पानी बहने लगा—'जाओ भी... 'जाना ही चाहिए बहू की सालगिरह है तो यह उत्सव की बात है, जाओ भई। हमें तो तुम्हारी माँ की जन्मतिथि भी नहीं मालूम, नहीं तो याद रखते...।' वे कुछ बोलते ही नहीं रहे पास के बाबू ने जब पूछा कि गंभीर हैं आप तो बोले—'कुछ नहीं। इससे कहा था दोनों घूम आओ बाहर लेकिन यह जा ही नहीं रहा। वह तो जाते समय मैंने ग़लती से इसे टोक दिया, बड़ी ग़लती हुई मेरी। वह भी मैंने इसलिए इसे टोका था कि आने में देर हो तो इसकी माँ खाना बना रखती। अब कोई बाहर जाता है तो देर लग ही जाती ही है लौटने में...।' कमरे में लौटकर मुझे सहसा यह लगा था कि भाग जाऊँ कहीं। चेहरे पर केंचुवे तैर आये थे। तबियत थी कहीं दूर अकेले में बैठकर सोचूँ और सोचता ही रहूँ। सहसा अन्दर जाकर पिता ने माँ से कहा था—'मैं बाहर जा रहा हूँ, ज़रा टहल आऊँ...!' माँ यह समझीं कि बहू-बेटे ऐश करने गये हैं और अब ये भी चले सो बोली—'मैं जा रही हूँ। वे गये, अब तुम भी जाओ...मैं पड़ोसी के यहाँ चाबी रख जाऊँगी और मुझे नदी-नाले में ढूँढना मत। मेरा तो भगवान रक्षक है...।' मेरा सिर फटने लगा। बात-बेबात माँ मर जाने को तैयार हो जाती हैं। कुछ सोच ही रहा था कि पत्नी ने कहना शुरू किया—'मुझसे खाना नहीं बनेगा। खा आना बाहर...।' मैं चुप ही रहा—'लड़ने को मेरा मन था ही नहीं। आफ़िस में बहुत थक गया...चाहता था एक प्याला गरम चाय मिल जाये। चाहता था जूते उतारे बिना ही सो जाऊँ। कोई कुछ न बोले, केवल यह अहसास रहे कि किसी ने कमरे में आकर धीरे से पंखा चला दिया है...।

शादी से पहले कभी भी यह बात मन में नहीं आई कि पत्नी के होने से उसके शरीर में डूबा रहूँगा मैं। जब भी उद्दीपन जैसा लगता है मेरे दिमाग़ पर तनाव नहीं आता, जवान हो जाने तक भी वैसी स्थिति में किसी का चेहरा सामने नहीं आता, शरीर का एक उपयोगी हिस्सा नसों में शराब घोल देता है और उससे अधिक कुछ नहीं...जब निपट अकेला होता हूँ तब भी पत्नी की ज़रूरत मैंने महसूस नहीं की, सहसा उठ जाने की मेरी आदत रही है, किसी दोस्त के साथ फ़िल्म देख ली, कॉफ़ी-हाउस में लतीफे सुना लिये, शहर के किसी भीड़भाड़ वाले टुकड़े में से गुजर गये, मज़मा लगाने वालों के भाषण सुनते रहे, या कुछ नहीं तो रीछ-बन्दर का तमाशा ही देखते रहे। इस तरह अकेलेपन को काट देना अजीब नहीं लगता मुझे। वैसे मेरे चेहरे पर करुणा-वरुणा भी नहीं आती। भूख लगी हो, चाय की इच्छा हो रही हो, मैं खुद बाज़ार चला जाऊँगा या खुद ही चाय का पानी स्टोव पर चढ़ाकर अपनी पसन्द का कोई गाना गाता रहूँगा।...पत्नी का मतलब मेरे लिए केवल एक था कि वह मुझे शेअर करेगी। मैं नहीं जानता कि मैं क्या चाहता हूँ या क्या चाहता था—यह मेरी स्पष्ट इच्छा थी कि मेरे माथे पर एक सिलवट अगर आई तो उसके माथे पर भी वैसी ही एक सिलवट आएगी, या उसके माथे पर कोई सिलवट नहीं है तो मेरे माथे पर से भी सिलवट को हट जाना चाहिए। कुछ नहीं, एक समानान्तरता चाहिए थी मुझे। मेरे कपाल पर चेचक का जैसा दाग़ है वैसा ही उसके कपाल पर भी हो, मेरी ठुड्डी पर चोट का जैसा निशान है, वैसा उसकी ठुड्डी पर भी हो, जैसे तिल ज़गह-बेजगह मेरे शरीर पर हैं वैसे ही उसके शरीर पर भी हों।...वह शाम मेरे लिए भयंकर थी। पत्नी ने एक और वाक्य कहा था—'हर मामले में नामर्द हो तुम...। कभी कुछ नहीं कर पाओगे।...' मैं उठकर बाहर आ गया था। दोनों हाथ ऊँचे कर मैं चीख उठा था—'मैं हार गया हूँ।...' लाश तो उन दिनों ही बन गया था। केवल करता यह रहा कि आज यह शहर छोड़ा, कल वह शहर छोड़ा...। बम्बई में कल्याण की रामवाड़ी वाला बरामदा, दिल्ली में पहाड़गज की गंदी होटलें, जयपुर की पाँचबत्ती के पास से जाने वाला रास्ता, नैनीताल के भरे मौसम में ईस्ट लेलन रोड पर लबादा पहनकर दौड़ते हुए घोड़ों से बचते हुए घण्टों

टहलते रहना, कलकत्ते के दक्षिणी हिस्से में धुएँ और मच्छरों के बीच अपने आप से लड़ते रहना, बनारस का गोदोलिया वाला सरदार जो आठ आने में ठर्रा बेचता है, मध्यप्रदेश का एक छोटा-सा कस्बा और उसकी ए० बी० रोड पर बिखरे बकायन के फूल, इन्दौर की शनिगली का नीची छत वाला मकान, भोपाल का टी० टी० नगर और युक्लिप्टिस के पेड़ों के नीचे पापी की रंग-रँगी झंडियाँ जो सवेरे मुट्ठियों की तरह, खुलती थीं और शाम तितलियों की तरह सो जाती थीं। एक एटलस मेरे सामने खुलता है और मैं यह महसूस करता हूँ कि बहुत सारे शहरों का वज़न मेरे कंधे पर लदा हुआ है। एक न एक चेहरा हैडलाइट की रोशनी में दिखकर छिप जाता है...। आज एक छोटा-सा रास्ता पार कर ये चार लोग मुझे यहाँ लाये हैं लेकिन हक़ीकत में मैं इस जगह तक बहुत लम्बा रास्ता पार करके आया हूँ। थी तो शवयात्रा ही उसकी धज बदल जाती रही है—शादी के लिए चमकदार कपड़े पहनकर निकलें या सारा सामान ढोकर शहर बदलें या चौरंगी में से खाली जेब गुज़रें...वह सब लम्बाई इस केवड़ातल्ला तक ही हमें पहुँचाती हैं।...



मेरी पलक झपक गयी, एकदम मेरी आँखों पर तेज़ उजेला आ गिरा था। लगा जैसे रोशनी का कोई छल्ला किसी ने मेरी आँखों में घुमा दिया है।

श्मशान की बत्तियाँ जल गई थीं...। मैं समझा था यहाँ अँधेरा ही होगा लेकिन एक बल्ब मेरे सिर के ठीक ऊपर जल रहा है। उसके एकदम जल उठने से मेरी आँखें चौंधियाँ गई थीं लेकिन ज़रा देर में ही वे फिर खुल गयीं। उजेले में मैंने देखा कि हर लाश के पास दो-दो, तीन-तीन लोग खड़े हैं और उनके साथ आये हुए कुछ दूर हटकर सिगरेटें पी रहे हैं। हर आदमी अन्तर्मन में बोर हो रहा था। मुझे यह ज़रा भर नहीं लगा कि कोई भी दुखी है। वही इंस्पेक्टर मुझसे आगे वाली लाश के पास रुका था। यही लाश मुझसे पीछे होती लेकिन इसको उठाने वाले खाली जगह देख इसे आगे बढ़ा ले गये हैं। जो लोग अगली लाश के साथ थे, उनके चेहरे तने हुए थे। उन्होंने इन्स्पेक्टर को कागज़ तो दिखा दिया लेकिन वे गंभीर हो गये। इंस्पेक्टर भीग गया था जैसे बोला—'रामराम।' मैंने गरदन को धीरे से उठाकर देखा—वह कोई लड़की थी। छोटा-सा शरीर बहुत छोटी चारपाई पर आ गया था। इंस्पेक्टर ने पूछा—'कैसे हुआ ये?' कोई भर्राये गले से बोला था—'कल रात गले में साड़ी बाँधकर फाँसी लगा ली।... पता लगा तो अस्पताल ले गये। वहाँ पोस्टमार्टम हुआ और क्या होना था।' वह आदमी इतना बोलते बिखर गया। दूसरे आदमी ने एक वाक्य और कहा—'अब तक यह प्यार आत्महत्या का कारण बना हुआ है इस लड़की ने जब उसके बारे में बताया तो इसे सब लोग डाँटते रहे। पता नहीं था इतनी जी लड़की यह कर बैठेगी।...' वह आदमी भी चुप हो गया तो इंस्पेक्टर आकाश की तरफ देखने लगा...'हर दिन एक न एक मौत ऐसे ही होती है। लेकिन मरने की बजाय यह उसके साथ भाग जाती तो ही अच्छा होता...।' भर्राये गले वाला लड़का रो दिया था—'मैंने खुद कहा था कि भागकर गई तो टाँग तोड़ दूंगा या उसका नाम लिया तो गला घोंट दूंगा लेकिन मुझे यह थोड़े ही मालूम था कि मेरे उस कहने की मुझे इतनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी।...'



मैं सहसा ही उदास हो गया था। अच्छा यह होता कि मैं वह सब नहीं सुनता। यह तो वैसा ही हुआ कि मरकर भी आराम नहीं मिला। जिस सबको मैं जीते जी सहता रहा वही सब इस तथाकथित मृत्यु के बाद भी सुन रहा हूँ। यह मन ज़रूर था कि उस लड़की का चेहरा देख लूँ—गले में फंदा लगने से तो ज़बान बाहर निकल आई होगी और आँखें खींच गई होंगी? पता नहीं आत्महत्या के बाद कैसी जड़ता आ गई हो चेहरे पर...। मैं उसके बारे में सोचता-सोचता यह भूल ही गया कि मेरा संघर्ष कुछ और ही था, मुझे तो रस्सियों से मुक्ति पानी थी और कोशिश करना था कि मैं लेटे-लेटे ऐसी हरकत करूँ कि मेरी लाश एक किनारे से ज़रा अँधेरे में हो जाये...। मेरे सिर के ऊपर जो यह बल्ब जलने लगा है उससे ज़रूर परेशानी में पड़ गया हूँ मैं कि ज़रा हिलूँ भी तो आसपास के लोगों को मालूम हो जाएगा। बेहतर यह होता कि ये चारों अगर लौट आते तो मैं ज़रा निश्चिन्त होकर वह करता जो मुझे करना है। यह विश्वास मेरे मन में है कि यहाँ इस अर्थी पर से उठ बैठूँ तो दुनिया की कोई ताकत मुझे ज़िन्दा हो जाने से रोक नहीं सकती। वैसे भी पहले मैं कमज़ोर था। पिता चेहरे पर करुणा लाकर मुझे डरा लेते थे, माँ रोकर मेरा हृदय-परिवर्तन कर देती थी, पत्नी मुझ पर ब्रह्मास्त्र फेंक-फेंककर पस्त कर देती थी। मैं हारकर

उसकी नागपाश में बंध जाता था और बधिया जानवर की तरह उसके क्रोध को सहन करता था। एकदम मुझमें कुछ नहीं हुआ लेकिन चार बार मरने की कोशिश कर लेने के बाद एक टालू आदत मेरी हो गई कि रिंग-रिंगकर चलता रहता हूँ और सारा जीवन जब भारी लगने लगता है तो आफिस की फाइल की तरह उस सोच को पेण्डिग कर देता हूँ और आराम से सो भी जाता हूँ। याद है मुझे मैंने एक बार हुगली में डूब जाने की कोशिश की थी। अँधेरे-अँधेरे वाटर गेट पहुँचा था। उसी बेंच पर बैठकर आलूदम खाया था जिस बेंच पर उसने कहा था—ये 'हारने-वारने की बात बन्द करो अब। सीधी-सीधी बात है कि उठो और मार्च करने लगो।...' वह छोटी-सी लड़की यह बोली ही नहीं थी उसने चमकती आँखों से मेरी तरफ़ देखा था। मैं उस अजीब-सी ईमानदारी में डूब गया था। उसके हाथ पर से मैंने हाथ उठा लिये थे। मुझे लगा था कि जिस दलदल में फँसा हूँ मैं उस दलदल के प्रति यह बड़ी बेईमानी है कि मैं अगर उसे झटक नहीं पाता तो इसकी तरफ़ बढ़ने का भी मुझे क्या अधिकार है।...मैं कहीं डूबता न डूबता कि उसने मेरे लिए एक कुल्हड़ चाय खरीद दी थी। एक घूंट चखकर उसने चेहरा बनाया था और मैंने उसकी तरफ़ देखकर पूछा था—'सोच रहा था कि तुम्हारी दी हुई चाय पीनी चाहिए या नहीं मुझे।...' उसने आज्ञा दी थी एकदम—'अपने सिरदर्द परिवार का ज़हर पीते भी कभी यह सोचा है? उसे अगर मजबूरी में पीते हो तो इसे खुशी से पीयो और चाहो तो मुझे धन्यवाद भी दो कि चाव के साथ-साथ कलकत्ता की मिट्टी का भी स्वाद मिल रहा है।' मैंने वह कुल्हड़ भर चाय स्वाद ले-लेकर पी थी और यह ठीक लगा था कि कुछ लोग मेरी मौत के कारण हैं, अगर मैं उनका रिश्ते-दार हूँ, तो चमकती आँखें जो मेरा ज़िन्दा रहने से खुश हैं, इनका गार्जियन मुझे बखुशी बन जाना चाहिए।...सच, गया था डूबने लेकिन पैर आगे बढ़े तो बजरे वाले ने पहचान लिया था—'सैर करवा दें बाबू। आज तीन की जगह दो रुपया ही दे देना।...' मैं जब चुप ही बना रहा तो वह खुद ही बोला था—'अच्छा, समझा, बीबीजी नहीं आई हैं इसलिए...। वे जब आयें तब सही साहब...।' वह यह कहकर क़िश्ती और किनारे में सम्बन्धित एक गाना छेड़ता पतवार घुमाने लगा था। फिर मैं वहाँ से लौट आया था

और यह भूल ही गया था कि यहाँ किसलिए आया था...। दूसरी बार अजीब तरह से यही ख़याल मेरे मन में समा गया था। मैं गया था नैनीताल, कुछ इस तरह वहाँ रहा चुपचाप कि किसी को पता ही न चले। सुबह उठकर झील की तरफ चेहरा घुमाकर बैठ जाता था और लंच तक वैसा ही बैठा रहता था। दुपहर फ्लैट्स में जाकर गुरुद्वारे के पास वाली वैंच पर बैठकर बत्तखें देखा करता। जैसे कागज़ की नाव को पानी पर छोड़कर हम यह देखते रहते हैं कि इसका क्या हश्र होगा, कुछ वैसा ही मैंने किया था। मैं अपने ही प्रति तटस्थ हो गया था। एक शाम सिगरेट जलाई तो वह जल नहीं पाई और मैं बेतहाशा दौड़कर वाई. एम. सी. ए. की चढ़ाई पर पहुँच गया था। मुझे सहसा लगा कि मैंने अपने आपको अगर रोका नहीं तो मैं हाथ से चला जाऊँगा। मैंने अपनी अटैची से झगझगाती रम निकाल ली थी। उस बोतल की तरफ देखकर कुछ इस तरह की भावना आ गई थी कि मैं भी देखता हूँ आखिर तू कितना नशा चढ़ाएगी मुझ पर। वहाँ की मैडम कॉरिडोर में से गुज़री थी तो कहती गई थी—'क्या हो रहा है?' वोला था मैं—'मैं आत्महत्या कर लेने से शराब पीना वेहतर बात है।...' वे कुछ नहीं बोली थी। मैंने दाँतों से पेंच खोले थे और उस कड़वाहट को खींच रहा था। याद केवल आया कि वह जब घर आई थी तो मैंने बिगवेन में लाईम मिलाकर बेहद स्वाददार एक गिलास उसके लिए तैयार किया था। महज़ जिज्ञासा से एक घूँट पीकर उसने कहा था—'मुबारक हो तुम्हें लेकिन याद रखो मेरे साथ अगर रहे तो ये सब बन्द करना होगा...।' मैंने प्रामिस किया था और दूसरे दिन उसने मुझसे पूछा था—'आखिर तुम ऐसी कड़वाहट पी कैसे लेते हो?' मैं अच्छे मूड में था, वोला तो यह—'यह कैसे बतायें? मेरा अपना आप हाथ से चला जाता है और जब भी ऐसा होता मैं थोड़ी देर बाद अपने आपको नशे में चूर पाता हूँ।...' उसने हँसकर पूछा था—'क्या तुम पी लेने के बाद रोते भी हो...?' मुझे यह सुनकर हँसी आ गई थी—'यह तुमसे किसने कह दिया कि पी लेने के बाद आदमी रोता है...?' कहा था उसने—'तब तो अच्छी बात है, मुझे रोने से डर लगता है...।' आवाज़ में कुछ था। यह भी मालूम था कि पापा मम्मी ने किसी भी समझदार माँ-बाप की तरह कहीं बात चलाई

होगी और उस किसी भी लड़के को देखकर इसे आग लग गई होगी, यह कुछ बोल नहीं सकती, केवल टोकन हड़ताल कर सकती है...वही इसने किया होगा। मैं कई बार गुस्से में उसे कह देता हूँ—'तुमसे कभी कुछ नहीं होगा, अधिक होगा तुम डायरी लिखने लगोगी ।' लेकिन उस समय सीधे से मेरा नाम ज़बान पर लाकर उसने कहा था—'आज कोई बेहद कड़वी चीज़ पीने को मन है इतनी कड़वी और तीखी हो वह कि ओठों से लगाकर पोर-पोर में आग लग जाये...।' मैं यह सुनकर घबरा गया था लेकिन जानता हूँ उस समय आँसू रोकने के लिए उसने ओंठ काटे होंगे...। मैंने आज्ञा दी थी उसे—'सबसे पहले आँसू पोछों अपने और मन को ठीक करो। दुनिया में कड़वी चीज़ों की कमी नहीं है...।' वह एक और वाक्य बोली थी—'शराब से मुझे डर लगता है, उसे पीने से बाल बिखर जाते हैं। बालों को चाहे जैसा सजा लो वे लट पर लट बँटने लगते हैं।' उसकी आवाज़ में जाने क्या था कि मैं डर गया था। उसने बतलाया था एक दिन कि अलमारी में पापा को ब्राण्डी रखी है... कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मेरी मन स्थिति के समानान्तर पहुँचने के लिए वह ब्राण्डी उसने पी ली हो...। झील के सामने उसे याद करते मैंने कड़वे घूँट भरे थे। हर घूँट के बाद जेब से कंघा निकालकर मैं अपने बालों को ठीक करता...। मुझे लगा था नशा एक ज्वार की तरह आता है और मेरे बालों की लहरों से टकराकर उनके सारे घुँघरालेपन की मज़ाक उड़ाता वापस लौट जाता है। मैं अपने बालों की एक लट को इधर से उधर नहीं होने दूँगा। एक घूँट गले से नीचे उतारा और फिर बाल सँवारने लगे।... थोड़ी देर बाद एक वेटर ने मुझसे आकर कहा था—'बाबू आपके बाल बिलकुल ठीक हैं और बालों को सँवारने के लिए उम्र पड़ी है, अभी खाना खा लीजिए...।' याद आता है उस दिन मैं हाथ से चला ही गया था। खाने की मेज़ पर सामने बैठे एक लड़के को मैंने चपत लगा दी थी। और जब वह घबरा गया तो चिल्लाकर कहा था—'नालायक कहीं के, तेरे बाल बिखरे हुए हैं। बाल ठीक करले पहले, फिर खाना खा।' मैंने उसे कंघा दिया तो वह मारे डर के सचमुच बाल ठीक करने लगा था। मैडम मुझे मेज़ पर से उठाने आई थीं, मैंने एक ही वाक्य कहा था—'आप यहाँ के काम के

काबिल नहीं हैं...।' पूछा मैडम ने तफ़रीहन—'क्यों ?' मैंने अपना कंघा उन्हें देते कहा था—'आपके बाल बिखरे हुए हैं।' मैडम हाल में बैठे लोगों को खुश करने की गरज़ से बोली थीं—'बालों के बिखरे होने से क्या होता है। बाल ही तो बिखरे हैं न, ज़िन्दगी तो नहीं बिखरी है...?' उनकी बात सुनते गोश्त का जो टुकड़ा मैंने खाने के लिए उठाया था वह ओठों से दूर ही रह गया और सहसा उँगलियों में से फिसल गया। मैंने फिर बाल ठीक नहीं किये। उनकी बात लग गई थी। सोने से पहले उस दिन जेब से वह कंघा निकालकर तोड़ डाला था मैंने...।



शायद अब तक किसी न किसी चीज़ का तोड़ना ही लगा रहा है। हर दूसरे साल किसी न किसी शहर में मैं यह कहता पाया गया हूँ अपने दोस्त से—'यार फर्नीचर बेचना है, सोफा, मेज़, कुर्सियाँ, पलंग, दीवान, अलमारी...।' किसी न किसी दोस्त ने हमेशा मेरा सामान खरीदा है और सामान बेचकर जेब में उस सामान के औने-पौने दाम रखते यह बात मेरे दिमाग़ में ज़रूर आई है कि चलो, इस सामान से छुट्टी मिली।...यह सब करते कोई तकलीफ़ नहीं होती। मुझे छूटा हुआ शहर भी याद नहीं आता, मैं जहाँ गया वहीं का होकर रह गया। हर शहर में इस अन्दाज़ से रहा हूँ जैसे आफ़िस टूर पर आया होऊँ। लेकिन यहाँ अर्थी पर लेटे-लेटे यह भाव

मन में नहीं है। मुझे न इस तौलिये को बेचना है, न ही इस चारपाई को, जो चारपाई-कम अर्थी दोनों है। जैसे आत्म-हत्या के सहज ही चूक जाने पर नहीं लगता कि कुछ खो दिया है या कुछ पा लिया है, केवल ऐसा लगता है कि बस से उतरते झटका लगा था या ट्राम में चढ़ते-चढ़ते पैर फिसलने ही वाला था कि बच गये...। इस समय मैं अपने भविष्य के बारे में निश्चिन्त हूँ उन चारों के आते ही जैसे भी होगा मैं यह रस्सी खुलवाऊँगा और यहाँ से एक बार ज़रूर उठूंगा। न मेरे मरने से कोई दुखी है और न ही मैं परेशान हूँ कि मर क्यों गया...? सामने उस लड़की की जो लाश रखी है वे बार-बार बाहर देख रहे हैं, वे चाह रहे हैं कि उसका वह प्रेमी ज़रूर आयेगा जिसके कारण यह अपने जीवन से खेल गई। हो सकता है जिस स्थिति में मैं हूँ उसी स्थिति में यह लड़की होती तो अर्थी से उठ भागने और रस्सी तुड़ा लेने के बजाय यह कामना करती रहती कि उसकी लाश के पास का उसका प्रेमी ज़रूर आये और उसके सिरहाने खड़ा होकर रोये, यह भी कि उसकी तरफ़ देखकर कोई पुरानी बात याद करे, मरने के बाद भी वह चाहेगी कि वह उसकी लाश के ऊपर झुककर उसके ओठों को चूम ले। प्रेमी आकर यह सब अगर करेगा तो लड़की के अटके हुए प्राण निकल जायेंगे और वह सच-मुच मर सकेगी। लेकिन मेरे प्राण तो कहीं किसी में नहीं अटके हुए हैं, मेरी पत्नी को सूचना दी जाये यह भी नहीं चाहता मैं तो लेकिन सूचना दे देने से एक लाभ ज़रूर होगा कि नाटक करने के किए जो सिन्दूर माथे पर लगाना पड़ता हैं, वह मिटा दिया जा सकेगा या विधवा हो जाने से जो रास्ते खुल जाते हैं वे ज़रूर उसके लिए खुल जायेंगे। माँ का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। वैसे ही वे मेरे गुण गा-गाकर दिन में एक-दो घण्टे रो लिया करती है, पन्द्रह मिनट ज़्यादा रो लेंगी। और बच्चा तो बहुत छोटा है, पापा एक आदमी या उसके लिए, उस पर कोई असर नहीं पड़ेगा। हाँ, गुड्डम का मैं नहीं जानता। यह सम्बोधन अंग्रेज़ी के किंगडम की तर्ज पर बना था—'जी डबल ओ डी' में 'डी ओ एम' जोड़कर और उसने कहा भी था कि इस गुड्डम को डेड्डम कभी मत बनाना। शायद इसीलिए उसके बारे में चिन्तित हूँ। चिन्तित ? हाँ चिन्तित ही समझिये...लेकिन यह मन नहीं है कि उसे मेरे मरने की सूचना दी जाये। कल वह फ़ोन करेगी तो

चपरासी बतला ही देगा कि वे चले गये। यह वाक्य वैसा ही होगा जैसा मेरे सहसा दार्जिलिंग चले जाने पर चपरासी ने बतला दिया होगा कि वे छुट्टी पर हैं। डर यही है कि जैसे तब इसने पूछा था—'कब लौटेंगे ?' वैसे अब भी नहीं पूछ ले। मेरा चपरासी ज़रा खुशफ़हम ही है, इसने अगर यह सवाल पूछा तो वह ज़रूर हँस देगा...। मुझे यह नहीं लग रहा है कि वह जो दुखी होगी या रोयेगी उससे मेरी आत्मा को कोई अद्‌भुत शान्ति मिलेगी। उसे करुणा में डुबाकर मैं खुश नहीं हो सकता। केवल एक ही इच्छा है कि यदि इस संघर्ष से छुट्टी नहीं मिल पाये तो एक बार उस बिन्दु तक ज़रूर चहलक़दमी कर लूँ जिस बिन्दु पर मुझे मृत घोषित किया गया है...। यह मेरा दोष है या उसका दोष है, ये सब बातें फ़िज़ूल हैं। लेकिन असफल हुई आत्महत्याओं के बारे में मैं अगर ठीक-ठीक सोच सकता हूँ और उन्हें एक अदना घटना से अधिक महत्व नहीं देना चाहता तो इस भोगी हुई मृत्यु के बारे में भी उसी शैली में सोच सकता हूँ। बग़ैर विश्लेषण किये जल जाने से विश्लेषण के बाद जलने में कोई मलाल नहीं रहेगा मन में...।



इतनी देर में एक लाश और जल चुकी है और मशीन की तरह एक-एक कर लाशें आगे हटाई जा रही हैं। वे चारों पता नहीं चाय पीने गये हैं या खाना खाने कि आने का नाम ही नहीं। मैं फिर चिन्तित होने ही वाला

था कि इस बार फिर मैं एक नम्बर पिछड़ जाऊँगा लेकिन पीछे वालों ने कट्सी से मुझे आगे बढ़ा दिया है और मैं उनकी नम्रता से सहज ही प्रभावित हुआ हूँ। तीन-चार गज़ आगे बढ़ जाने से एक बड़ा लाभ यह हुआ मुझे कि अब मैं फिर नीम अँधेरे में आ गया हूँ। बल्ब पीछे छूट गया है और मेरे हिलने-डुलने में सुविधा हो गई है। अब मैंने हाथों को गोल-गोल घुमाया। मेरा दायाँ हाथ ऊपर खींचने से ढीला हो गया। केवल कंधे पर थोड़ा फँस रहा है। मुझे विश्वास हो गया इससे कि अगले कुछ मिनटों में ही मैं अपने एक हाथ को मुक्त कर पाऊँगा। मैंने सामने देखा कि कुछ लोग लाश को जला कर जा रहे हैं। उन में एक कम उम्र का लड़का भी है और वह मन ही मन हम लाशों को गिनता भी जा रहा है। उसने गिनती पूरी कर अपने साथ वाले बुज़ुर्ग से कुछ कहा—शायद इतनी अधिक लाशों को एक साथ देखकर उसे आश्चर्य हो रहा था और बुज़ुर्ग को संख्या बतला कर वह अपने आश्चर्य में सम्मिलित करना चाहता था लेकिन उसे डाँट दिया गया। डाँट खाकर वह सिर झुकाकर तो चलने लगा लेकिन लाशों की तरफ़ देखने का प्रलोभन उसके मन से जा ही नहीं रहा था। ऐसे ही विचित्र-विचित्र प्रलोभन मेरे मन में भी बाज़ वक़्त आए हैं। यह सच है कि एक-एक घर तोड़कर मैं जो आगे बढ़ता रहा हूँ और शहर छोड़ने पर मेरे चेहरे पर जो प्रसन्नता आ जाती रही है वह इस एक कारण से ही कि आगे की कोई बात मुझे बाँध लेती रही है। लेकिन यही हमेशा होता रहता तो मेरी अकाल मृत्यु नहीं होती। मैंने आगे बढ़ते हुए भी जो यह अनुभव किया है कि मैं टुकड़े-टुकड़े में बँटता जा रहा हूँ, उसने मेरी गति को लड़खड़ाया है। जब शादी नहीं हुई थी तब मेरा एक हिस्सा सीलन भरे कमरे में लालटेन की रोशनी में उकड़ूँ बैठकर शेक्सपीयर पढ़ता रहा, उसी समय दूसरा हिस्सा कालेज में पोर्च में प्रिन्सिपल के सामने सिगरेट सुलगाकर शहर का सबसे बोल्ड लड़का कहलाता रहा और उसके साथ ही चालीस-पचास रुपये महीने की प्रूफरीडरी करके दोस्तों को कॉफ़ी-हाउस में घेरकर यह बतलाता रहा कि पास्तरनेक मरा नहीं था उसने तो पिल्स खाकर आत्महत्या कर ली थी या ऐसी ही कोई बात ऐसे अधिकार के साथ कहता कि सारे दोस्त विश्वास ही नहीं कर लेते, बात फाँकने की मेरी शैली की नक़ल भी करने लगे थे।

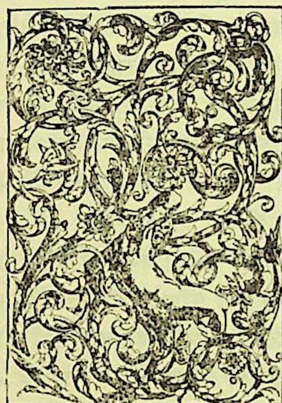
इस दुहरी-तिहरी ज़िन्दगी से जब मुक्ति मिली तो मैं और भी बड़े चौराहे पर फँस गया। एक दिन पत्नी से झगड़कर जब उदास हो गया तो मैंने अपने ही कई चेहरे बनाये थे—एक चेहरा था चहारदीवारी वाला जिसमें मैं कुरता-पाजामा पहनकर चाय सुड़कते हुए अपने बच्चे की नाक साफ़ कर रहा होता, दूसरा था आफ़िस का चेहरा : टाई की बढ़िया नॉट, पेरिस की सिलाई वाला सूट, आला सिगरेट और जिसके व्याकरण की दृष्टि से ग़लत हिन्दी तथा उच्चारण की दृष्टि से ग़लत अंग्रेज़ी बोलकर अपनी साख जमा ली थी...। मैंने तय कर लिया था कि पत्नी से टकराऊँगा नहीं। एक दिन कह भी दिया था मैंने...नहीं भी कहता लेकिन उसने कहने के लिए मजबूर कर दिया था। मैं पहली को पे मिलते ही जब लौटा तो रास्ते से मिठाई भी ले आया था। बोली थी वह—'मुझे नहीं खाना। हम कोई बच्चे हैं जो आप मिठाई से बहला रहे हैं...।' मैंने बात को तूल देने की बजाय उबलते पानी को ठण्डा करने की कोशिश की थी। लेकिन उसे हाथ लगाते ही वह बिखर गई। बोली—'जैसे मिठाई बहलाने का तरीका है, वैसे ही यह भी तरीका है। आप जानते हैं कि औरत यहाँ तो कमज़ोर पड़ेगी ही...।' मैंने सहसा हाथ हटा लिए थे—'तो ठीक है, यह अगर सहज ज़िन्दगी नहीं है और टेकनिक ही है तो मैं अब तुम्हें कभी नहीं छुऊँगा...।' उसे इस वाक्य से आग लग गई थी और अपने तैश में उसने एक भयंकर वाक्य कहा था—'यह भी सुन लो कि अगर मुझे अगर छुआ तो उसका मतलब होगा अपनी माँ के शरीर को छुआ है...।' मैं तो उसकी तरफ़ देखता रह गया था, यह अच्छी तरह जानते भी कि कसमों के अन्दाज़ में बात करने की उसकी आदत हो गई थी, मुझे बात छू गई थी। उस शाम से मैंने यह भी तय कर लिया था कि अधिक ही तकलीफ़ होगी तो मैं जेब में दस-बीस रुपये रखकर कहीं चला जाया करूँगा...। एक और दुहरापन मेरे उठने-बैठने में जुड़ गया था। ये सब ऊपर की बातें मुझ पर इस क़दर हावी हो गईं कि मैं जब उदास होता तो लतीफ़े सुनाने लगता, मैं जब सिक करने लगता तो शराब ले बैठता, जब सरासर रोने की तबियत होने लगती तो ज़बरदस्ती हँसता...। ऐसे ही एक जानलेवा क्षण उससे पहचान हुई थी। उसने जब मेरा नाम पूछा तो मैं यह बोला था—'मेरी शादी हो

चुकी है, मैं पिता हूँ, मैंने आत्महत्या की कोशिश की है, मैं अब ऐसे बिन्दु पर खड़ा हूँ कि मेरे साँस लेने का कोई मतलब नहीं, मैं ख़ुद कई बार आफ़िस में जब भी फ़ुरसत में होता हूँ तो यह लिखा करता हूँ किसी न किसी कागज़ पर कि मैं मर चुका हूँ, केवल यह क़सर है कि चार भले लोगों को बुलवाकर मेरे ज़बरदस्ती चलने-फिरने को कुर्क करवा दिया जाए। और स्टेट्समैन के डेथ कालम में यह छपवा दिया जाना चाहिए कि मैं फलाँ-फलाँ तारीख को मर चुका हूँ...।' अब याद आ रहा है कि मैं बड़ी देर तक बोलता रहा था जब बात खत्म कर चुका था तो वह गंभीर हो जाने की बजाय हँस दी थी—'हाँ, परिचय जानकर खुशी हुई और नाम तो वही महेश-दिनेश, सुरेश-नरेश जैसा ही कुछ होगा ?...' उसकी विट पर शरमाकर मैंने नाम बतलाया था उसे। बस, इससे अधिक मुझे कुछ याद नहीं। और हमारे नजदीक आने का कारण हमारा फ़िल्मों का शौक था फ़िल्म फेस्टीवल में टॉम जोन्स को हमने खूब एन्ज्वाय किया है। मुझे लगा था उस दिन कि मैंने उसे खोज लिया है जिसकी मुझे ज़रूरत थी। उसके साथ के कारण जीवन के सारे अर्थ बदल गये थे। टेरी-कॉट का डार्क सूट पहनकर जब लाइट-हाउस के बारे में उससे मिला था तो उसने मुझे बधाई दी—'तुम्हारे इस बदलते रूप पर मेरी आँखें लग गई हैं।' उस ठण्डी शाम मैंने स्वीकार किया था उसके सामने कि अब तक जब भी आईने के सामने मैं जाता था मेरी इच्छा यह होती थी कि मेरे सिर पर कोई सफ़ेद बाल नज़र आ जाए तो अच्छा हो...। मैं शायद पत्नी को यह कहकर जलील करना चाहता था कि लो तुम्हारे कारण सत्ताईस की उम्र में मैं दशरथ हो गया...। लेकिन जबसे उससे पहचान हुई है मैं सोचने लगा हूँ कि मेरे बालों में कुछ अधिक ही लहरें पड़ने लगी हैं। मुझे यह साफ़-साफ़ लगा था कि उसके कारण ही मेरी सुबह-शाम बदली हैं...उसके कारण ही मेरी नाट में एक सधा हुआ खिचाव आया है, उसके कारण ही मेरे जूते की टो नुकीली हो गयी है...। उस दिन 'हाराकीरी' के टिकट ब्लैक से खरीदे थे। वह टाल रही थी—'छोड़ो, इस फ़िल्म को नहीं देखते। इसमें वही आत्महत्या फिर देखें। और मूड आफ होगा...।' मैं ज़िद पर था कि इसे तो देखूँगा ही। फ़िल्म देखते हम दोनों डूब गए थे—

'नहीं भाई, मुझसे ऐसी हाराकीरी नहीं हो सकती।' बोला मैं था लेकिन उसे चुप देख पूछा—'क्या तुम कर सकती हो...।' उसकी आँखों में एक दृढ़ता थी। वह एक छोटा-सा वाक्य बोली थी—'मैं इससे भी मुश्किल हाराकीरी कर सकती हूँ...। मैंने उसे कंधे से थाम लिया था—'क्या ?' उसकी आँखें स्थिर थीं। कहा मैंने ही—'मुझे तो ज़िन्दा रहने के इतने सारे रास्ते बतलाती हो और खुद ऐसी बात कर रही हो।...मुझे गंभीर देख उसने बात को दबा दिया था—'कहा ही तो है, की तो नहीं। छोड़ो भी। चलो आज तो भेल-पूरी खायें उससे समुद्र याद आयेगा तुम्हें बम्बई का और आत्म-हत्या वाला नशा उतरेगा...।' हम बाद में भेलपूरी खाते रहे थे और मैं उसे भवानीपुर के मोड़ पर छोड़ते बोला था—'सुन्नो। अगर तुमने कभी हाराकीरी की ना तो मैं तुम्हारा खून कर दूँगा...।' वह खिल-खिलाकर हँस दी थी ग्रौर मैंने ट्राम में चढ़ते हाथ हिलाया था जिसके उत्तर में उसने ज़बान दिखा दी थी और ग़लती से मैंने दस की जगह पन्द्रह पैसे का टिकट ले लिया था। मैं बदल गया था उसकी पहचान के कारण। घर में मेरी एक अलग ही तस्वीर बन गई थी—मेरा घर से कुछ लेना-देना नहीं था। मैं चुपचाप खाना खा लेता, चुपचाप सो जाता। कोई कुछ बोलता तो ऐसा व्यवहार करता जैसे पीकर आया हूँ। मेरा एक कटा हुआ टुकड़ा हमेशा गुड्डम के साथ होता ग्रौर यह मुझे लगता कि मेरे ज़िन्दा रहने के सारे तत्व उस हरारत वाले टुकड़े में ही केन्द्रित हो गये हैं...जैसे सारे इलेक्ट्रोन-न्यूट्रोन-प्रोटोन उसी एक खण्ड में हैं और बाकी सब बेमानी हैं। एक शाम पत्नी को आँखों में ग्राँसू भरे देखा तो मनमें यह बात आई कि कहीं तीसरे चेहरे के कारण ही तो ये दीवारें टेढ़ी होने लगी हैं। अपनेही तर्क से उसी क्षण मुझे लगा था कि तीसरे चेहरे के कारण तो ये गिरने से बची हैं।

उसके मुस्कराते चेहरे के सहारे न होते तो अपने आप से घबराकर या तो मैं खुद को खतम कर लेता या किसी दिन खून चढ़ जाता तो पत्नी का खून ही कर देता। मेरा मन पहले कई बार तर्क भी करता था कि ऐसे ज़िन्दा रहने से किसी का खून करके जेल चला जाना और जीते जी मरते रहने से फाँसी पर चढ़ जाना बेहतर है। यह विचार कम तब हो गया था जब मुझे लगा था कि अगर पत्नी का पारा ऐसे ही चढ़ता रहा तो मेरा

ख़ून यही कर देगी। मुझे वह स्थिति ज़्यादा पसन्द आई थी। पत्नी के हाथों मर जाने की बात से कौतूहल हुआ था, भले ही वह अखबारी कौतूहल ही क्यों न हो...। वे ही स्थितियाँ आज होतीं तो मैं ऐसा बेचारा नहीं लगता। हो सकता था कि मेरी लाश के साथ एक ख़ूबसूरत शरीर रोता-बिलखता चलता और मेरी मृत्यु नगर की एक घटना बन जाती...।



अब कह सकता हूँ कि मेरी मौत का कारण तर्क है और मेरा वह स्वरूप है जिसे 'रेशनल' होना कहते हैं। तर्क से तो ज़िन्दा रहने के कारण मिलते हैं लेकिन जिन्हें मिलते होंगे उन्हें ही मिलते होंगे...। वह तर्क ही तो था कि मैंने अपने घर में एक सख़्त झाड़ू से बुहारा लगाया था—स्वीपर का काम मैंने किया था इसीलिए कि वह ज़रूरी लगा था। एक दिन साँसें मुश्किल हो गईं और दूसरे दिन मेरा घर खाली हो गया। उसके पिछले दिन मैंने लंच लिया था और उस दिन से दुपहर का खाना खाया ही नहीं। आफ़िस की मेज़ पर अपाइण्टमेण्ट्स वाली डायरी रखी है, उसमें साढ़े बारह से दो तक लंच लिखा है और वह डेढ़ घण्टे का खाली समय और अंग्रेज़ी के वे पाँच अक्षर मुझे बड़े अश्लील लगते हैं। कई बार उसने लंच-अवर में फ़ोन किया है। पूछा है—'क्या खाया ?' तो मैं बोला हूँ—'आज तो कई चीज़ें खाईं—चिकनकरी, चिकनदही, चिकन टोस्टेड, चिकन दोपियाज़ा...।'

वह रोक देती––'यह किस होटल का मेनू है ?' बात हँसी में उड़ जाती और कालेज के वे अलफलिया दिन याद आते जब हर होटल का मेनू रट लेने की हावी थी और कई बार यह हुआ है कि होटलों के मैनेजर चौंके हैं मेरे मुँह से वह सब सुनकर। गुड्डम को जब मालूम हुआ तो कहा था उसने—'किसी फ़िल्म का गाना रट लें तो बात समझ में आती है लेकिन यह मेनू रट लेने की क्या हॉवी है...?' मैं बात सुन डूब गया था—'वे ज़माने अब नहीं रहे। पहले मालूम है...एक दिन चिकन खाते थे तो दाँत साफ़ नहीं करते थे कि चिकन का स्वाद एकाध दिन और रहे मुँह में...। वैसे भी जो ठीक से खाना नहीं खा पाता हो उसके लिए मेनू याद रखना एक परवर्टेड तृप्ति तो देता ही है...।' यहाँ तक तो वह मेरी बात का मज़ा लेती रही लेकिन एक सेकण्ड सटरडे जब घर आई और उसने देखा कि मैं सवेरे लंच की जगह छोटा-सा ब्रेकफास्ट लेता हूँ और वह भी ब्रेड के दो-तीन टुकड़े वाला, जिन्हें दूध में डुबाकर खा लेता हूँ...। वह कुछ देर मेरी तरफ़ देखती रही और जब मैंने टुथपीक लेकर दाँत साफ़ करना शुरू किया तो उसने मेरा हाथ पकड़ लिया—'दाँत क्यों साफ़ करते हो। इस ब्रेड को भी रहने दो दोनों में ही कि दो-चार दिन इसका स्वाद मुँह में बना रहे। मुँह में घुलता हुआ ब्रेड का यह स्वाद तुम्हें परेशान क्यों नहीं करता ?... मेरा चेहरा लटक गया था। बचपन के वे दिन तो बीत गये जब आलू मिठाई की तरह खाते थे लेकिन जब कमाने-धमाने लगे तो अच्छा खाना मेरे जीवन में सबसे महत्वपूर्ण हो गया था, मेरे घर में सबसे अधिक खर्च खाने पर ही होता था लेकिन घर के उजड़ने के साथ परोसा हुआ खाना भी बिखर गया। मैंने टुथपीक फेंककर गुड्डम को अपने से बाँध लिया था—'बात यह है कि मेरे दाँत में एक केविटी है...।' उसने मुझे बोलने नहीं दिया था—'केविटी की जगह केव हो, मुझे उससे क्या, लेकिन यह सब क्या है ? ज़िन्दा रहने का यह ढंग...। मैं नहीं देख सकती यह सब...।' वह मेरी बाँहों में से अलग हो गई थी। मैंने उसे मना कर कहा था—'तुम आ जाओ फिर खाना ही नहीं खाने खाया करेंगे...।' उसने अपने को स्वस्थ कर लिया था—'आना तो है ही और सोचते हैं कि आ ही जाना है लेकिन रास्ता नहीं दिख रहा है।' यह कहते वह गंभीर हो गई थी क्योंकि

गंभीर होना ही था। हमारे मिलने का अन्त यही होता भी है।...

फिर वह बीमार थी। उसने कभी नहीं बतलाया कि उसे क्या हुआ है लेकिन उसे कुछ हो जाया करता था। उससे बात नहीं हो पाई। मैं परेशान होता रहा तो चौथे दिन पीले रंग का एक लिफ़ाफ़ा मिला। वह पुरी से आया था...तेईस तारीख डली थी उसपर। ऊपर पुरी, समुद्र का किनारा पढ़कर ही मुझे लगा था कि यह ख़त नहीं शोकगीत है। आफ़िस में ही पढ़ा था उसे—'यहाँ बैठी हूँ समुद्र के किनारे। दूर तक रेत ही रेत है। सूरज ज़बरदस्ती चमक रहा है। जहाँ-जहाँ तक नज़र जाती है समुद्र ही समुद्र है और तुम ही तुम हो। मैं यहाँ सहसा नहीं आई हूँ यहाँ आना पहले से तै था, पन्द्रह दिन पहले से रिजर्वेशन करवाया था। मैं बहुत बीमार रहती हूँ ना तो सबने सोचा था उनकी पिकनिक होगी और मेरा चैंज। लेकिन मेरा चेंज तो हो लिया। यहाँ आकर यह ज़रूर सोचा है कि सारी बातों पर ठीक से सोच लूँ। मुश्किल से आज समुद्र किनारे आ पाई हूँ। तुमने तो पुरी का समुद्र देखा है। कैसा तो लगता है? यहाँ बैठकर मुझे तुम्हारी बुरी तरह याद आई है। कहोगे यह मेरी याद करके मर जाएगी। वैसे तुम व्यस्त आदमी हो कहीं भी मन लगा लोगे। यह भी हो सकता है कि अपने ऊपर काम ओढ़ लो और मेरे बारे में सोचने को वक्त ही न मिले...। मैंने यह सरासर महसूस किया कि मुझसे तुम्हारे बगैर रहा ही नहीं जाता। अगर रहा जाता, ऐसा विचार भी आता तो तुमसे छिपाती नहीं। वैसे मैं सरासर दिवालिया हूँ या तो तुम हो मेरे पास या फिर ये बीमारियाँ हैं। मुझे डर भी लगता है कि मैं तुम्हारे साथ रही तो क्या करूँगी। खाना बना नहीं सकती, स्वस्थ रह नहीं सकती, उदासी को तोड़ नहीं सकती...। सोचती हूँ तो मन डूब जाता है। इसीलिए जान-बूझकर तुम्हारे खिलाफ़ भी सोचती हूँ कि उससे ही कोई रास्ता निकल आये। लेकिन होता उल्टा है, तुम्हारे खिलाफ़ सोचने से भी आँखें चमकने लगती हैं। सुनते हैं पुराने ज़माने में अतीत सब कुछ होता था यानी अगर पहले तुमने किसी से मोहब्बत की है या तुम विवाहित हो तो तुमसे प्यार करने का सवाल ही नहीं उठता या मेरे साथ कोई कहानी जुड़ी होती तो तुम्हारा चेहरा तन जाता। लेकिन हमारे सामने न ये बातें कभी आईं न इनका

कोई मतलब ही है। हाँ, जब भी तुम्हारी पत्नी के बारे में सोचा है मन डूबने लगा है। कह लूँगी आज और तुम्हें सुन भी लेना चाहिए। जो कुछ भी सुना है उनके बारे में उससे यह मन को लगा है कि वे निश्चित ही स्मार्ट और सलीके वाली औरत होंगी क्योंकि तुम्हारे उजड़ने के बीच भी जो सन्तोष मुझे दिखाई देता है वह सही है कहीं...। जानती हूँ कि तुम मुझे चाहते ही हो लेकिन मुझे लूज़ करने के साथ ही पत्नी को भी लूज़ कर देने का डर कहीं तुममें है। मेरे साथ रहकर भी शायद उस पत्नीपन को तुम बनाये रखना चाहते हो। मुझे अच्छी पत्नी बनने की बात सोचनी चाहिए लेकिन मैं सोच नहीं पाऊँगी क्योंकि मैं उस मिट्टी की बनी हुई नहीं हूँ। यह भी सही है कि किसी को फूहड़, नीच और झगड़ालू कहा जा सकता है और तुम जैसे को शायद घर-नगर के साथ पत्नी-प्रेमिका बदलने की भी इच्छा हो सकती है, मैंने बहुत सोचा है यहाँ की रेत पर बैठकर कि सामाजिक रूप से तुम मुझे पा नहीं सकते। तुम अकेले हो तो अकेलेपन से परेशान हो, तलाक़ नहीं मिले तो उस क़ानूनी दाव-पेंच से भी परेशान रहोगे। यहाँ यह घर अपनी प्रतिष्ठा पर टिका है यानी मुझे दरवाज़े से बाहर पैर नहीं रखने देगा। कहीं मुझे यह भी लगता है कि तुम मुझे केवल इसलिए पाना चाहते हो कि मुझे पाना, मुश्किल और असंभव है और असंभव चीज़ या हर स्टोलन चीज़ मधुर होती है।...मैं तो यह भी कहूँगी कि पत्नी के होते जो भागे उसमें कहीं अपराध तो है ही तुम्हारा। एक और अपराध तुम करते रहे हो, वह विलम्ब का। जब ज़िन्दगी नहीं ही रही थी तो रुकते किसलिए थे तुम ? शायद यूँ ही, लेकिन यह छोटी बात तो नहीं है...तुम जब खुश दिखे हो मुझे नाटकीय लगे हो। तुम्हारा उदास चेहरा सही होता है, उस पर मेकअप नहीं होता। कई बार मुझे यह तक लगा कि कहीं मुस्कराते समय तुम्हारे चेहरे पर से मुस्कान नीचे नहीं गिर जाये, वैसे ही जैसे नकली मूँछ नीचे गिर सकती है। तुम्हारा क्या है...तुम्हारे पास नाटक एक सहारा है। अभी मुझे हर्ट कर दोगे, अभी कॉफ़ी-हाउस में जाकर लतीफ़े सुनाओगे। मुझे लगता है तुममें लीवर नहीं है केवल बैलेन्स है। तुमने कहा था दुहरे ढंग से जीना तुम्हारी विवशता रही है लेकिन तुम पत्नी के साथ भी घूम सकते हो और उसी शाम मेरी चुन्नी पर नाम भी लिख सकते हो।

साथ ही यह सन्तुलन भी रख सकते हो कि दायें हाथ की बात भी बायें हाथ को न मालूम हो।...अभी रेत पर से उठी थी...तो लहर छूकर गई है। मेरे पाँव के नीचे से रेत खिसकी है, सहारे के लिए हाथ शून्य में हिले हैं, मुझे इसी जगह लगा है तुम मुझे बेकार ही घसीट लाये बीच में। अच्छे-भले जी रहे थे पर खुद को ज़बरदस्ती परेशान करना या किसी न किसी लड़की के साथ एडवेन्चर करना अच्छा लगता है तुम्हें। मेरे पाँव लड़खड़ा गये हैं शायद लहर के कारण, या शायद रेत के सिसकने के कारण या मेरे बीमार होने के कारण। तुम मुझे एडवेन्चर समझो तो मेरा अपना आप बौना नहीं हो जाएगा ? तुम्हारे लिए एडवेन्चर नशा हो सकता है, तुम मरने में भी एडवेन्चर कर सकते हो और मैं जीते जी भी एडवेन्चर नहीं कर सकती। सुनो अभी रुकती हूँ। अब होटल पहुँचकर लिखूंगी...। तुम भी रुक लो। खत आफ़िस में मिला है ना, उठो और घर जाओ, वहाँ अपने पीली ज़िल्द वाले सोफ़े पर अधलेटे बाकी का खत पढ़ना। मेरी बात मानो, खत पढ़ने से पहले या बाद में प्लीज़ पीना मत...। खत मोड़कर मैंने रख लिया था। यह कारण नहीं है कि उसने लिखा था इसलिए खत पढ़ना मैंने रोक दिया था। मुझसे वैसे ही बाद का कुछ पढ़ा नहीं जाता। एक तो वह पुरी चली गई, दूसरे उसने साहस करके मेरे खिलाफ़ यह सब सोचा जिसका अन्देशा मुझे था, उसके बाद सोचा ही नहीं मुझे लिखकर भी भेजा...। ग़लती से मेज़ पर रखी घण्टी बज गई थी। चपरासी आया तो मैं खाली आँखों उसकी तरफ देखता रह गया था। यहाँ तक याद नहीं रहा कि घण्टी मैंने ही बजाई थी। वह मुझे चुप देख चला गया तो लगा कि टाई की गठान अपने आप खुल गई है।...मेरी उदासियाँ कहीं छुट्टी पर चली गई थीं। और अब फिर लौट आई हैं...। मैंने वैसे भी किसी के सामने तर्क करना बन्द कर दिया था। एक दोस्त भोपाल से आया था और मेरे घर को खाली देखकर पूछा था उसने—'अरे बीबी कहाँ गई तुम्हारी ?' मैं बोल दिया था सहज ही—'चली गई, पटती नहीं थी, अलग हो गये।' वह आँखें फाड़-फाड़कर मेरी तरफ़ देखने लगा था—'पटती तो राजा राम की भी नहीं थी। तुमको भी किसी धोबी ने भड़काया होगा...।' मैं उसकी तरफ देखकर हँस दिया था और यह सोचकर चुप हो गया था

कि अपनी बात हर किसी को समझाई ही जाये यह आवश्यक नहीं है।... लेकिन वह चुप होने वाला तो था नहीं, बोला—'कहो तो मैं सब मामला ठीक करवा दूँ।' मैं उसकी इस सहानुभूति से बोर हो गया था। कहा इतना ही—'चाहें तो आप मेरी बीबी से शादी कर लीजिए...।' वे साहब मेरी यह बात सुनकर कुढ़ ही नहीं गये थे, वगैर चाय ही पीये चले गये थे। मैं भी उन्हें दरवाज़े तक छोड़ने नहीं गया था। ऐसे-ऐसे लोगों के बीच तो हम लोग फँसे हुए हैं और ऊपर से गुड्डम भी यही लिखे तो...? मुझे लगा था मैं अब उसी के अन्दाज़ में सोचने लगूँगा लेकिन खुद को संभाल लिया। एकदम उठ गया था। मेरे तर्क का अंत यह था कि मैं कब्र में से उठकर उसके पास पहुँच गया था और उसके तर्क का अंत यह ख़त है कि वह सायास मेरी बाँहों में से छूटकर पुरी चली गई है। जी चाह रहा था कि इस ख़त का आफिशियल एकनालेजमेंट भेजवा दूँ।...यह अजीब बात है, जिसे मैंने तटस्थ होकर अनुभव किया है कि अच्छी-खासी टूटन वाली मनःस्थिति में से जब गुज़र रहा होता हूँ तो मेरे दिमाग़ में मौत-वौत नहीं ही आती है। उस समय एक्शन ही आता है और चाहे जैसे ऊटपटाँग प्लान भी मैं बना लेता हूँ। चाहे जो सोच लेने में मुझे देर नहीं ही लगती। एक दुपहर जब वह मिली थी तो मैंने कहा था—'आज ऑफ़िस जाते जूते पहनने लगा बड़ी तो तकलीफ़ हुई। बिलकुल मन नहीं था जूते पहने जायें और जब तुम आई हो तो तुम्हें वापस नहीं भेजूँगा...।' यह कहकर एयर इण्डिया की इन्क्वायरी से मैं पूछने लगा था कि एक घण्टे बाद कौन-सा हवाई जहाज कहाँ जाता है। वहाँ से उत्तर मिला था—'एक घंटे बाद तो क्या तीन घण्टे बाद भी कोई हवाई जहाज़ कहीं नहीं जाता...।' सच, उस दिन उस समय कोई पलेन होता तो हम चले ही गये होते जो बात सुलझती ही नहीं, उसके प्रति मेरे मन में यही आता है कि जो कुछ करना हो वह एक झटके से कर लिया जाना चाहिए फिर परिणाम चाहे जो हो...। वह आश्चर्य से मेरी तरफ देख रही थी—'अच्छा ही हुआ जो इस समय कोई हवाई जहाज नहीं है, नहीं तो तुम वाकई चल देते और मैं साथ चलने को मना नहीं करती। मुझे तो साफ़-साफ़ दिख रहा है। तुम मुझसे सलाह क्यों लेते हो कि क्या कैसे करना है...जो चाहो कर डालो। सच, सब कुछ बड़ा डल चल रहा है...।' उसके

ये वाक्य सुनकर सारा कलकत्ता मेरे लिए मुट्ठी में भरकर फेंके गये पासे की तरह हो गया था और मैं ज़मीन पर बिखरे उस महानगर को अपने सपनों के अनुरूप देख रहा था।...उसके बाद ही शाम खराब हो गई थी और मैं सोच रहा था तो यह और ऐसा नहीं हुआ तो मैं निश्चित ही आत्महत्या कर लूँगा। ये विचार जब भी आते हैं ऐसा लगता है कि मेरे ही नाम का एक तृतीय पुरुष मेरे अन्दर है और मैं उसको यह धमकी दे रहा हूँ और सच, जैसे उसके परिवार के लोग या मेरे दोस्त मेरी इस धमकी से डरते हैं वैसे ही मेरा वह तृतीय पुरुष भी डरता है। परिणाम यह होता है कि मैं जो भी रिस्क लूँ या जो भी खतरनाक से खतरनाक बात सोचूँ वह उसे ओ० के० कर देता है...। जानता था पीली जिल्द वाले सोफ़े पर बैठना उसके प्रति खिलाफ नहीं ही सोचने देगा लेकिन एक नाराज़ी तो थी ही जिसके कारण मैं ठीक नहीं हो पा रहा था। उसका ख़त मेरे सामने खुल गया—मैं बोला था, 'तुम्हारे इस ग़लत सोचने के लिए...। एक साँस में कई गज़ लम्बी शराब मेरे गले से नीचे उतरी थी।—' अब नाराज़ी दूर करो। मैंने जो कुछ सोचा वह स्वाभाविक तो था ही और मुझे यह लगा है कि वह सोचना एक्चुअली तुम्हारे पास आने से पहले ही हो जाना चाहिए, नहीं तो हम सबेरे की चाय बिगाड़ेंगे। यदि तुम ख़त को दो हिस्सों में बाँटकर पढ़ रहे हो तो यह समझ ही जाओगे कि यह दूसरा हिस्सा है। अगर दो भूगोल बदलकर अब उसी सोफे पर मेरी इच्छानुसार अधलेटे होकर यह पढ़ रहे हो तब तो मुझे और भी अच्छा लगेगा। देखो जायज़-नाजायज़ वाली बात सामने तो आती ही है और पापा-मम्मी को मुझ पर शक है न तो दो-चार लोगों के उदाहरण देकर यह कहते हैं वे कि मोहब्बत का एक नया चलन चला है आजकल की प्रेमिकाएँ रखैल हो जाती हैं। पहले मैं इस तर्क से डरती थी। सच्ची, मुझे ये लगता था कि तुम मुझे मेज़-कुर्सी की तरह घर में जगह दे दोगे और मैं अजीब तरह की बेचारगी में डूबी रहूँगी हमेशा। लेकिन इसके साथ यह बात मेरे मन में नहीं ही आई कि मैं केवल पत्नी की तरह ही रहूँ। 'पत्नी' शब्द से एक झुंड की स्वीकृति का बोध ही होता है...। डर इस व्यंग से भी नहीं लगता कि सड़क चलते बकवास लोग यह फिकरा कसेंगे कि यह इसकी पत्नी नहीं, इसकी 'अटैचमेंट' है लेकिन एक बात ज़रूर

लगती है कि लोगों के तर्कों को बदला नहीं जा सकता। मैं अपने परिवार के सहसा रातों रात प्रगतिशील हो जाने की कल्पना नहीं करती, मैं इस भ्रम में भी नहीं हूँ कि उनके चिन्तन में या दकियानूस दर्शन में कोई अन्तर आ जायेगा। अभी कल ही मैं मम्मी से उलझ पड़ी थी। वे कह रही थीं—'अच्छा घर ढूँढ़ेंगे, ढंग का लड़का देखेंगे, सलीके से शादी करेंगे...।' यह सुनकर कहा था मैंने—'कैसा बोर प्रोसेस है यह।' मम्मी ने उलटकर पूछा तो—'तो और प्रोसेस क्या होगा?' मैं नाखून काट रही थी, नाखून काटते ही बोली—'यह क्या बताऊँ. लेकिन मैंने दूल्हे से बँधी दुलहिनों को देखा है, वे तो ऐसी लगती हैं जैसे किस कार का बम्फर फूट गया हो पंचर हो गया हो और किसी ट्रक से बाँधकर उसे ले जाया जा रहा हो। जैसे वह टूटी हुई कार घिसटती है वैसी ही हालत मुझे हर दुलहिल की दिखाई देती है...।' मेरा वाक्य पूरा होते ही मम्मी बोली थीं—'और जिनके माँ-बाप का नाम-पता भी नहीं मालूम ऐसे लड़के-लड़की जब भरी सड़क पर एक-दूसरे से उलझकर चलते दिखाई देते हैं तो वे कैसे लगते हैं?' ब्लैड को अँगूठे के नाखून पर फिसलाते मैंने तपाक से कहा था—'वे ऐसे लगते हैं जैसे कोई समर्थ डबलडेकर जा रही हो...।' मम्मी को मेरे नाख़ून काटने का अन्दाज़ अच्छा नहीं लगा था या मेरी ज़बान पर रोक लगाने के लिए ही वे बोली हों—'यह जो डबलडेकर है वह दो नम्बर है या नौ नम्बर?' बस के इन नम्बरों का आशय मैं समझती हूँ, ये बसें हमारे घर के सामने से ही नहीं गुज़रतीं, उन बिन्दुओं से शुरू होती हैं जहाँ मम्मी की निगाह में काबिल एक न एक जवान लड़का रहता है, जिससे मेरी बात चलाई जा सकती है। नम्बरों की बात से मेरा मूड ऑफ हो गया था लेकित मम्मी को चुप करना जरूरी समझकर मैं बोली थी—दो और नौ दोनों ही नहीं हैं मम्मी, यह तो स्पेशल बस है, इसमें लेक-वेक की तरफ़ सैर पर जाने वाले सपने नहीं हैं, केवल पसीना है...।' मम्मी मेरे वाक्य से पहले ही उठ गई थीं और मैंने पाया कि मैंने ब्लैड से अँगूठा काट लिया है। बहते खून वाले अँगूठे को मुँह में लेकर मैं एक ही मुद्रा में बैठी रही थी घण्टों...फिर खुद ही उठी थी कि क्या इस तरह के गोल चेहरे से चेंज के लिए ही तो यहाँ आई थी...? सोचा था स्कर्ट पहनकर रेत पर पाँवों के निशान बनाऊँगी,

साड़ी पहन कर सीपियाँ बीनूंगी...लेकिन कुछ भी नहीं किया समुद्र होकर बैठ गई हूँ...। छोड़ो भी इन बातों को लेकिन अगर मैं स्वस्थ ही नहीं रही तो ? तो—बोलो ? तुम्हारा दिन ही खराब करती रहूँगी ना...।' खत रुक गया था । वह अधूरा वाक्य ऐसा लगा जैसे इतने ही पृष्ठ उसने नहीं भेजे हैं, एक-दो पृष्ठ मुझसे ज़रूर कहीं खो गये हैं । जो तर्क इस बिन्दु तक आया है वह डाट-डाट या डेश-डेश में खत्म नहीं हो सकता । मैं परेशान होकर कमरे में आगे का पन्ना ढूंढने लगा था । मेरे पढ़े हुए पृष्ठों पर ठीक-ठीक पिन लगी होगी, मैंने पिन को निकाला भी नहीं था फिर आगे का पन्ना कहाँ गया...' खुद को मैं समझाता रहा था कि हो सकता है, उसने इतने ही पन्ने पोस्ट कर दिये हों लेकिन वह ख़त ऐसे रुका था जैसे चलती फ़िल्म में रील कट गई हो, हाल में अँधेरा हो, कुछ भी दिख नहीं रहा हो लेकिन आवाज़ें ज़रूर सुन पड़ रही हों...। मैंने उसी आवाज़ को खोजने की ग़रज़ से सोफे के नीचे झाँका कमरे के कोने-कोने छान डाले लेकिन अगला पृष्ठ नहीं मिला । बाकी का पैग गिलास में डालकर मैंने एक घूंट में समाप्त कर दिया था । किसी ने पूछा—'क्या तुम्हें लगता है कि इस पृष्ठ के आगे भी कुछ है ?'

'है ही नहीं, निश्चित ही है । जिस बिन्दु पर यह ख़त पहुँचा है वह बिन्दु जड़ नहीं हो सकता । वह चलने वाला बिन्दु है...।'

'तो हो सकता है वह अगला पृष्ठ तुम्हारे घर के दूसरे कमरे में उड़ गया हो ।'

'तो मैं दूसरे कमरे में जाकर उसे ढूँढूंगा ।...'

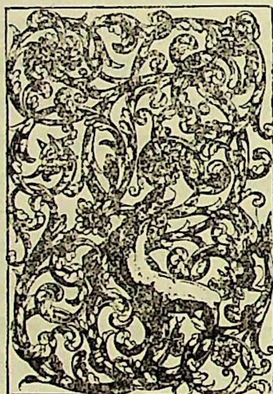
'या यह भी तो हो सकता है कि वह अगला पृष्ठ पुरी में ही रह गया हो ?'

वह वाक्य सुनते ही मैं उठ गया था । सिगरेट बुझा दी थी । अपने से ही बोला था—'अगर अगला पृष्ठ पुरी में है तो मैं पुरी जाकर उसे खोजूंगा...।' उस समय रात को आठ बजे थे या ऐसा ही कुछ समय रहा हो । मैंने अपनी अटैची निकाल ली थी । पुरी के लिए ट्रेन रात को ही तो मिलती है...मैं अभी पुरी चला जाता हूँ । दो बुश्शर्ट अटैची में रखे थे और कुछ ज़रूरी सामान । उस निश्चय के एक मिनट बाद मैं टैक्सी में बैठा

था—'हावड़ा।' खुले हुए शीशे से तेज़ हवा मेरे बाल बिखरा रही थी। सरदार खुद पीये था। मेरी तरफ़ घूमकर देखा उसने और एक पंजाबी तराना छेड़ दिया। पता नहीं क्या गा रहा था वह लेकिन उसकी आवाज़ में खास उतार-चढ़ाव थे। बोल पर मुकरी देकर ऐसे धीमे से वह गीयर बदलता था कि लगता था एक लहर आई है. यह यहाँ छू लिया है उस लहर ने और वह वहाँ लौट गई है। रेसकोर्स के उजेले पारकर वह वाटर गेट के पास से स्टैण्ड रोड की तरफ घूमा था। जगमग करते जहाज खड़े थे और हुगली के पानी पर दिवाली मन रही थी। पुरी के साथ एक शब्द जुड़ा है, रथयात्रा का—एक रथ है : जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा का, माँ ने पुरी से आकर जो सुनाया था तन्मय भाव से वही मुझे ठीक-ठीक याद है। रथ से जाने क्यों केवल भारी-भारी पहियों का ही ख़याल आता है और ख़याल आता है कहीं चले जाने का कहीं...कहीं भी चले जाने का। ठीक है, यह मेरी भी रथयात्रा ही है...देखता हूँ किस बाग़ में जाकर यह शेष होती है...? हुगली को चीरती एक स्टीमर गुज़र रहा था और लग यह रहा था कि परछाइयों वाली नदी पर प्रकाश की एक और नदी चल रही है...। मैं बाहर देख रहा था। मुझे तो आज समुद्र तल तक पहुँचना है, ठीक उस ऊँचाई तक जहाँ तुम हो, जहाँ लहरें आती हैं और छूकर पाँव नीचे की रेत को खिसकाकर चली जाती है। यह सही भी है कि किसी ऊँचाई या नीचाई से तुम्हें मैं ठीक-ठीक देख नहीं सकता, मुझे खुद तुम्हारे एटीच्यूड तक पहुँचना होगा।...मुझे यह साफ-साफ लगने लगा था कि वह पुरी के बीच पर रेत से घिरी बैठी है। उसके हाथ अनमने ही सीपियों को बीन-बिखरा रहे हैं। आगे बढ़ा हुआ पाँव अकेला ही रेत का घरौंदा बना रहा है और लहर आती है, उसके ऊपर से गुज़र जाती है, वह वैसी की वैसी बैठी रहती है ब्लैड से कटा अँगूठा मुँह में लिए...मेरे देखते लहरें गुज़र जाती हैं, मुझे यह लगता है कि खिसकती रेत सामर्थ्य खो बैठी है, उसे हिला तक नहीं पाई है...। सहसा दृश्य बदल गया। टैक्सी हावड़ा ब्रिज क्रास कर रही थी। नीचे हुगली और ऊपर पुल को थामने वाली कैंचियाँ। उन्हें देखकर मेरी आँखों में स्थिरता आ गई।...वह पुल था या हुगली या रथयात्रा की उदासी कि मैं उसे सम्बोधित करके बोला था—'देखो गुड्डम, अगर कल

से तुम्हें टी० बी० घोषित हो जाये या मुझे कैंसर तो उससे क्या अन्तर पड़ता है, मैं तो उदास भी नहीं होऊँगा। अगर डॉक्टर कह दे कि तुम दोनों दो महीने बाद मर जाओगे तो हम टाइम-एलिमेंट वाले सिद्धान्त को उठाकर फेंक देंगे। हम किसी सवेरे ही एक साथ रहना शुरू कर देंगे। जैसे आज मोकम्बो में लंच के लिए सीट रिजर्व करवाई है वैसे ही किसी अस्पताल में दो बिस्तर रिजर्व करवा लेंगे। आज जैसे यह कल्पना मन में है कि तुम्हारे हाथ की बैड-टी कैसी लगेगी वैसे तब यह सोच लेंगे कि बैड-टी की जगह कड़ुवे मिक्स्चर पीने हैं। कोई भयंकर बीमारी हो जाये तो हर बात एकदम तय हो जायेगी। फिर पापा-मम्मी का डर नहीं होगा। वे ज़्यादा कहेंगे तो उन्हें जवाब दिया जा सकेगा कि आप यह समझ लीजिये हम आज ही मर गये...।' टैक्सी रुकी तो मेरे मन में यह तय हो गया था कि अब किसी वक्त का मुझे इन्तजार नहीं करना है। मैं सीधा उसके पापा के पास जाऊँगा और कह दूँगा—'हम दोनों साथ रहना चाहते हैं। और आपका हम सम्मान करते हैं इसलिए आज्ञा माँग रहे हैं। ज़्यादा तर्क करेंगे अगर वे तो कह दूँगा कि साथ रहने की इच्छा हमारी विवशता नहीं है, हमारी विवशता तो यह है कि हम अलग नहीं रह सकते...। वैसे हम लोग मील भर की दूरी पर भी इकट्ठे ही रह रहे हैं, हम तो यही सोचते हैं कि हमारे कमरे दूर-दूर हैं वैसे भी संयुक्त परिवार में आपस के मनमुटाव चलते ही रहते हैं और कौन जानता है कि कौन किसी से बात करता है और कौन किससे बात नहीं करता है वैसी ही है आपकी नाराज़ी...। हमें तो केवल एक कमरे में रहने की परिमीशन चाहिए...।' कहे जाने वाले वाक्य बनते ही जाते लेकिन सरदार ने मीटर डाउन कर घण्टी बजा दी थी और मैं कुली देखने लगा था। पूछा था उसने—'कहाँ जाना है?' मैं जल्दी से बोला—'पुरी।' 'गाड़ी लग गई क्या। कुली हँस दिया—'बाबू, इस समय साढ़े ग्यारह बजा है और गाड़ी तो साढ़े नौ बजे ही चली जाती है...।' सहसा अपनी रथयात्रा के कैंसिल हो जाने पर मुझे दुःख हुआ था। लेकिन मैंने उससे पूछा—'क्या इस समय कोई और गाड़ी नहीं जाती लेकिन आपको जाना कहाँ है?' उसका यह सवाल मुझे परेशान कर गया। मैं जवाब दिये बगैर ही टैक्सी में बैठ गया। लौटती गति में मैं निढाल हो

गया था। मेरा सिर हल्के से टिक गया था। आँखें झप गई थीं। केवल एक ही बात मन में गूँज रही थी कि अगर कोई और ट्रेन कहीं जा रही होती तो क्या मैं कहीं भी चला जाता? उत्तर था—'हाँ' झंपती आँखों के अन्दर पलकों के बीच कोई रेत जैसी चीज़ आ गई थी। आँखें मुट्ठियों की तरह लग रही थीं...जैसे वे रेत को उठाने की कोशिश कर रही हैं और बिखर-बिखर कर रेत गिरती जा रही है पता नहीं कैसे मेरी आँखें मुट्ठियों का व्यक्तित्व पा गई थी?...



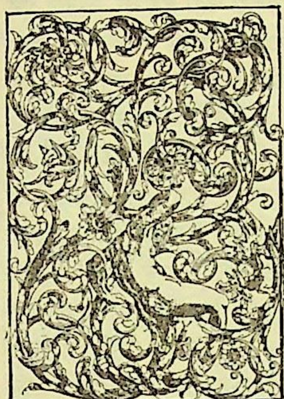
और इस समय भी कुछ वैसा ही लग रहा है। अँधेरे कोने में पड़ा हूँ और किसी की नज़र मुझ पर नहीं जाती। वैसे भी लाश की तरफ़ देखना कोई अच्छा तो लगता नहीं ना, सो कोई मेरी तरफ़ देखेगा, यह अपेक्षा भी हास्यास्पद लगती है। एक झटके के साथ मेरा हाथ रस्सी से मुक्त हो गया। मेरी आँखों में उस हाथ की मुक्ति के कारण चमक आ गई, यह विश्वास वन गया कि जैसे हाथ फ्री हुआ है वैसे सारा शरीर फ्री हो जायेगा और जीते जी जो नरक भोग रहा है उससे स्वतन्त्रता मिल जायेगी। हाथ से मैंने छाती पर कसी रस्सी को अनुभव किया और उस सिरे को ढूंढ़ने लगा जहाँ गठान वाँधी गई है। अगर गठान वाला सिरा मिल जाये तो अपने आपके मुक्त कर लेने में फिर देर नहीं लगेगी। मैंने घूमकर देखा तो एक नई परे-

शानी मेरे सामने आ गई थी। वे चारों मुझसे ज़रा ही दूर सिगरेट पीते दिखाई दिये। उनके ओंठ गेहुँए रँगे हुए और सिगरेट पीने की धज कुछ ऐसी थी जैसे वे लोग चाय ही पीकर नहीं आये हैं खाना भी खा आये हैं। मुझे उनके खाना खा आने से क्या एतराज़ हो सकता है लेकिन भय इस बात का ही हुआ कि ये तो अब निपट फुरसत में हो गये हैं यानी यह इत्मीनान इनके मन में भी आ गया होगा कि लगे अब जितनी भी देर लगनी है। उनकी आवाज़ समझने की मैंने कोशिश की तो पता चला कि वे मेरे लिए लकड़ियों का इन्तजाम कर चुके हैं। उन दोनों में से जो आगे-आगे कंधा दे रहे थे कोई एक बोला है कि इतनी लकड़ियाँ फ़िज़ूल खरीद लीं, यह तो दुबला-पतला आदमी है, इसे जलाने के लिए इतनी लकड़ियों की ज़रूरत नहीं थी।...जो भी वे बात कर रहे थे उसमें निर्लिप्तता थी या यूँ ही सा भाव था। मुझे तो यह लगा कि जैसे मेरे मरने से पहले एक पाप कटने जैसा भाव इनके मन में आया होगा वैसा ही भाव तब भी आयेगा जब मैं कहूँगा कि मैं तो ज़िन्दा हूँ और कृपा कर आप मुझे जलाने का कष्ट मत कीजिये।...वे तब शायद लकड़ियों का जमा करवाया रुपया रिफंड करवायेंगे और बचत हो जाने की भावना इनके मन में ज़रूर आयेगी। मैं अपने मुक्त हाथ को अपने बंधे हुए शरीर पर घुमाता जा रहा था। मुझे यह देखकर अजीब लगा कि वे लोग लगातार सिगरेट पी रहे हैं। पहले शायद मेरी मृत्यु से उत्पन्न वातावरण उनके चेहरे पर पढ़ा जा सकता था लेकिन अब वे काफी स्वस्थ लग रहे हैं। उन्हें देख कर तो यह कहा जा सकता है कि मेरी मौत उस रूप में नहीं हुई है जैसी आम जवान मौत हुआ करती है। नहीं तो किसी परिवार में अगर मुझ जैसा युवा और कमाऊ लड़का मर जाये तो परिवार का परिवार यतीम हो जाता है। मैं नहीं जानता कि अब कोई यतीम हुआ भी है या नहीं। मेरा बच्चा पत्नी के पास है और उसने इस तरह पाला-पोसा है कि पिता से निकटता जैसी बात उसके मन में आई ही नहीं। यह मेरे लिए संतोष की ही बात है। साथ ही यह भी कि अपनी मृत्यु से पत्नी के विधवा हो जाने की बात ज़रूर आती ही होगी लोगों के मन में लेकिन मैं इस बात से भी मुक्त हूँ। विधवा होने का जो अर्थ है : 'ऊपर से साया उठ गया'—वैसा भाव मेरी पत्नी में कभी नहीं

आयेगा। ज़्यादा होगा तो वह दिखाने के लिए रो-रा लेगी और दूसरे ही क्षण स्वस्थ हो जायेगी। यदि मेरा बीमा होता तब वह ज़रूर चिन्ता करती और यह भी निश्चित मानिये कि मेरी लाश जब तक क्यू में लगी रहती एल. आई. सी. से लोग रुपया ले भी लेते लेकिन इस मामले में मैं समझदार आदमी हूँ। जिस दिन मेरे घर के दरवाज़ों में फाँक हुई मैंने किश्त जमा करवाना बन्द कर दिया। तब यह लगा था कि जो लोग जीते-जी मेरे नहीं हो पाये उनके लिए ही मैं यह रुपया क्यों जमा करवाऊँ कि वे मरने पर उसे वसूल कर सकें। अब मैं यह कह सकता हूँ कि जिन लोगों का जीवन से अटैचमेण्ट ही टूट जाता है वे मृत्यु की कामना न भी करें मौत को बरसात के दिनों पैर फिसल जाने से ज़्यादा महत्व नहीं देते हैं। मेरे साथ यही सब हुआ है। मेरे साथ कई बार यह हुआ है कि मैं जब हार गया हूँ और अपने सारे दिमाग़ से मुझे यह लगा है कि मैं कुछ कर नहीं पा रहा हूँ यह भावना मेरे मन में आती रही है कि मुझे अगर मृत घोषित कर दिया जाये तो कोई बेज़ा बात नहीं होगी वह। पुरी वाली या रथयात्रा के कैन्सिल होने वाली वह रात मुझे एक अँधेरी घाटी में छोड़ गई थी। उस रात नींद के आने न आने की बात तो मुझे मालूम नहीं हाँ यह ज़रूर मालूम है कि रात लेटे-लेटे एक निर्णय मन में बना था कि अपनी बुद्धि से जो बात मैं सोच रहा हूँ और जो ठीक-ठीक है वही अगर नहीं हो पाती है तो उसका मतलब यही समझा जाना चाहिए कि जीने का जो बुनियादी आधार है वह अर्थ खो देगा। मैं बताऊँ ना आपको...हमारे यहाँ माँ ने अन्दर के कमरे में एक ठाकुरद्वारा बना रखा था—लकड़ी का एक बड़ा सिंहासन...उसमें गादी-मसनद, झालर-पंखे, और राजसी सज्जा के सारे ताम-झाम थे। वे जहाँ भी जातीं दो-चार मूर्तियाँ खरीद लातीं। मैंने एक बार देखा था कि वहाँ एक दर्जन से अधिक शंकर थे। कोई-सा भी गोल पत्थर माँ के लिए भगवान बन जाता था। वे जब गईं तो अधिक से अधिक भगवानों को अपने साथ ले गईं लेकिन कुछ मेरे पास ही छोड़ गईं, इस कामना से कि वे मेरी रक्षा करेंगे। मैंने उन पर ध्यान नहीं दिया लेकिन एक दिन आँधी आई थी और वह सिंहासन उलट गया। सारे कमरे में शंकर ही शंकर हो गये। मैंने खुद बुहारा लगाया था और उन शंकर को कंकर-पत्थर की तरह समेटकर बाहर फेंक

आया था। मेरे मन ने ही तर्क किया था, 'यह तुमने क्या किया ?' मैं गंभीर होकर सिगरेट जलाते बोला था—'बात श्रद्धा-फद्धा की नहीं है, बात केवल अर्थ की है। माँ ने इन्हें अर्थ दिया था, अब ये अर्थ खो चुके हैं। जब अर्थ खो देने के कारण खुद माँ और पत्नी इस घर में नहीं रह पाईं तो ये शुद्ध पत्थर कैसे रह सकते हैं। इन्हें रखे रहने का मतलब होगा ज़िन्दा लोगों का अपमान करना, सो वह मैं नहीं कर पाऊँगा।'...यही अर्थ मैंने जीवन में भी खोया है और एक बिन्दु पर मुझे यह लगा है कि साँसें ढोने का भी वही हाल होगा। मेरे अन्दर का तृतीय पुरुष ही मुझे मर जाने या अर्थ खो देने को स्वीकार कर लेने के लिए उकसाने लगा। मैं उस तृतीय पुरुष से भागा भी हूँ लेकिन जहाँ भी मैं जाऊँ वह आ ही जाता है और मुझे कन्विन्स कर देता है कि मैं बेग़ार ढो रहा हूँ। बात सरासर उलट गई है अब एक दिन था कि मैंने अर्थ खो दिया था। मैं बैठे-बैठे सोचता कि मैं मर रहा हूँ—सहसा कमरे की बत्ती गुल हो जाती और छत ऊपर उठ जाती, दीवारें हुई-हुई किस्म की आवाज़ करती भागने लगतीं, मैं देखता रहता कि दीवारों को पूँछ भी हैं और वे भागते समय पूँछ को अपने पिछले पैरों में डरे कुत्ते की तरह दबा लेती हैं।...फिर मैं नीचे देखता तो धरती फटने लगती और मैं वज़न खोकर एक भटकैया की तरह उस घुमड़ते हुए अन्धेरे में सिर फोड़ने लगता। उस घाटी कि भयावह गन्दगी मुझसे बरदाश्त नहीं होती। मैं खुद ही देखता कि मेरे शरीर से खून बह रहा है मेरे हाथ-पैर गलित कुष्ठ से निर्जीव हो गए हैं। मेरी पीठ में किसी ज़माने का एक तीर चुभा हुआ है। पैरों में जूते नहीं हैं और शरीर पर मात्र एक फटी हुई गंजी है। थोड़ी देर में ऐसी स्थिति हो जाती मेरी कि मैं मरने से डरने लगता लेकिन यह महसूस करता रहता कि अब मरने से मैं भाग नहीं सकता। मुझे किसी ने कभी यह नहीं बतलाया कि आदमी मरकर स्वर्ग में जाता है जो कुछ बतलाया गया वह यही कि आदमी को मरकर यंत्रणा भोगनी पड़ती है। मैंने उस अपने भीड़ भरे घर में गरुड़-पुराण सुना है। एक बार नहीं, कई बार और मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि रौरव नरक किसे कहते हैं, कुंभी-पाक नरक में क्या होता है, शाल्मलि नरक में कौन-सी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं...। यही कारण है कि मरने की कल्पना के साथ गिलोटीन जुड़ा

हुआ है। जीते जी भी उस गिलोटिन पर चढ़ा हुआ महसूस करता रहा हूँ। लगता रहा है कोई मुझे टुकड़े-टुकड़े करता जा रहा है। मेरे खण्ड-खण्ड बिखरते जाते हैं और कोई एक हिस्सा हरकत करता हुआ बच जाता है···। मैंने एक दिन मरने के सन्त्रास की उससे चर्चा की थी कि मृत्यु कितनी डरावनी होती है तो वह हँस दी थी। मैंने जब सुनाया था—'मौत में यह होता है कि हम किसी पुल पर से गुज़र रहे होते हैं और सहसा ऊपर की कमानियों पर बैठे सारे गिद्ध हम पर टूट पड़ते हैं, कोई एक आँख ले भागता है, कोई नाक छीन ले जाता है और बात की बात में हमारा अंग-भंग हो जाता है। तभी कई सारे गंदे कुत्ते हमारा पीछा करने लगते हैं हम सीढ़ियाँ उतरते जाते हैं उतरते जाते हैं और आगे एक अंधा अंधेरा तलघर दिखाई देता है···फिर हम दौड़ते-दौड़ते एक अग्नि-कुण्ड में जा गिरते हैं। उस समय उस आग में से केवल हड्डी के कुछ ढाँचे उठते हैं और वे हमारे शरीर पर भुना जा रहा मांस नोच-नोच कर खाने लगते हैं···' मैं बोलता जा रहा था पर उसने कान बन्द कर लिए थे—'बन्द करो यह सब।' वह मेरे वर्णन से पसीना-पसीना हो गई थी और पर्स से इलाइचियाँ निकालकर खाने लगी थी···। उसे घर पहुँचाने गया था तो नेशनल लायब्रेरी के मोड़ पर वह मुझसे लग गई थी। बोली थी, 'इस पुल पर हमेशा गिद्ध बैठे रहते हैं।···' मैं नहीं जानता कि उसे मेरी बातें कैसी लगी थीं लेकिन मुझे एक संतोष ज़रूर था कि मौत की उस तसवीर के कारण उसने मुझे इतनी ज़ोर से आलिंगन किया था कि सारी रात मैं उसे महसूस करता रहा···। लेकिन अब मैं कुछ भी महसूस नहीं कर रहा हूँ। यह कहना मुश्किल है कि हक़ीकत जब मौत आई तब मैंने क्या फील किया। जबकि मेरे सिरहाने न गीता पढ़ी गई न ही मेरे मुँह में गंगाजल डाला गया। यह मैं ठीक-ठीक बतला तो सकता हूँ लेकिन उसके लिए अभी वक़्त नहीं है। जब तक मैं उस बिन्दु पर नहीं पहुँच जाता जहाँ मुझे मृत घोषित किया गया था तब तक मैं यह नहीं सोच सकता कि मैं गिद्धों की चपेट से मरा हूँ या अग्नि-कुण्ड में जा गिरने से झुलस गया हूँ या फिर मेरी पीठ में कोई विषैला तीर चुभ गया था जो मैं धराशायी हो गया···



उस रात के बाद सब ठीक हो गया था। वह दूसरे दिन ही पुरी से लौट आई थी। फ़ोन करके मुझसे कहा था—'अभी आकर मिलो।' मैं उस पत्र की मार से उबर नहीं पाया था। बोला यही—'अब मिलने का क्या सवाल उठता है। मुझसे जो यह अपराध बन पड़ा है कि मैंने जबरदस्ती तुम्हें काँटों में घसीटा है सो वह ठीक हो जाएगा। मैं अपने आपको विद-ड्रा कर लूँगा, फिर वैसा करने में मुझे चाहे जितनी तकलीफ ही क्यों न हो।...' लेकिन उसने मेरा मुँह बन्द कर दिया था—'प्लीज़ उस खत के बारे में मत बोलो।' मैं चुप होकर उसके पास चला गया था। एक ही वाक्य बोला—'अच्छा हुआ जो तुम पुरी चली गईं और इन सब बातों को ठीक से सोच लिया।' मैं कहीं गहरे में डूबा था क्योंकि जहाँ मेरी सारी शक्ति इस बात में व्यस्त थी कि किसी भी शर्त पर मैं उसे लूज़ नहीं करूँगा, वहीं मुझे खुद उससे बिदा लेना पड़ रहा था और वह बिदा इतनी भारी ऐसी अकारण होगी इसकी तो मुझे कल्पना भी नहीं थी। मैं यह निश्चित ही समझे था कि मैं जिस किसी स्थिति में भी हूँ और वह स्थिति दुनिया की दृष्टि में चाहे जितनी नाजायज़ है वह मुझे समझती है और इस अण्डर-स्टैंडिंग पर ही मेरी बनती हुई दुनिया टिकी थी। उससे जो समानान्तरता मिली थी, वह माथे पर चेचक के दाग और ठुड्डी पर सिलाई के निशान

और हाथ-पैरों के जगह-बेजगह तिलों से ही गहरी नहीं हुई थी लेकिन इस बात से भी हुई थी कि हम एक-दूसरे को जितना अधिक समझ सके वैसा कोई और नहीं समझ सकता। पहले जैसे परिवार की सम्पन्नता, दहेज, गाड़ी और ठाठ-बाट देखकर शादी की जाती थी वैसे ही अब समानान्तरता देखी जानी चाहिए। यह अगर नहीं हुई तो फिर दाम्पत्य कच्चे घड़े की तरह टूटता है। मैं उसकी तरफ से नज़र हटाकर कहीं और देखने लगा था। वह मेरा कहीं और देखना सह नहीं पाई थी और मेरे पास आकर बोली थी—'खत मैंने ही लिखा है लेकिन उसे लिख लेने से एक भारीपन से मैं मुक्त हुई हूँ और सच मानो उसे लिखने के बाद मैं तुम्हारे नज़दीक ही आई हूँ, दूर नहीं हुई हूँ।…' उसके हाथ का कोमलतम स्पर्श मेरे बुशर्ट की कालर को बेंधकर मेरे कन्धे की हड्डी पर आ गया था। फिर फ़्यूज़ जुड़ गया था और अन्दर से उठी चली आ रही लहर में डूबकर मैंने उसकी तरफ देखा था। उसकी भूरी आँखों में बहते आँसू रुक नहीं पा रहे थे। मैंने अपनी उँगलियों से उन्हें रोका था। मुझे उसने भरी हुई आँखों से ऐसे देखा था कि मैं परेशान हो गया। मैंने उसे स्वस्थ किया था। पन्द्रह मिनट बाद वही मैं और वही गुड्डम हो गई थी। हम फिर बोतल में से स्ट्रा फेंक-कर नंगी बोतल से कोकाकोला पी रहे थे। उसकी कमर पर मैंने छुआ तो उसने गुदगुदी से दुहरे होकर कहा था—'तुम बिलकुल गधे हो, यह आज सिद्ध हो गया, माना मैंने बेहद लड़कियाना या हिन्दुस्तानी या एडो-लेसेन्शिया ढंग से खत लिख भी दिया तो कौन-सा कहर बरस गया है। तुम तो खासे मर्द हो ना। मेरे सामने आते ही मेरी पीठ पर एक मुक्का जमाकर कहते—खत की बच्ची…और मैं एक क्षण में वह की वही हो जाती। सच मैं तो आज जब आई ना तो यह सोचकर भी कि मेरे खत ने तुम्हारा मूड खराब किया है यही एक्सपेक्ट कर रही थी कि तुम चेहरा नहीं बनाओगे और ज़रा देर में मेरी कलाई तोड़ने पर तुल जाओगे। यहाँ तक कहूँ कि मैं तुम्हारे सामने पड़कर अपने हाथ पीठ पर बाँधे थी कि कहीं तुम ज़ोर से न मार दो लेकिन हुआ उल्टा…छोकरियों जैसा चेहरा बना-कर बैठ गये और…।' मैंने उसे एकदम चुप करते उसकी पीठ पर मुक्का जमा दिया था। वह पीठ सहलाती बोली थी—'थैंक्यू, इसे कहते हैं रेशन-

लिटी।' मैंने कोकाकोला केबिन के सामने ही उसे चूम लिया था। लड़के ने हँसने की बजाय शरमा कर मुँह फेर लिया था।...



आज को छोड़ ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैंने घण्टे से अधिक किसी घुमड़ वाली स्थित को सहा हो। यह साधारणतः होता रहा है कि या तो मैं उस स्थिति से मुक्त हो लेता हूँ या फिर अपनी सारी शार्पनेस खोकर उस स्थिति का क़ैदी हो जाता हूँ। यह अजीब स्थिति भी है कि एक मरा हुआ आदमी यह समझे कि वह क़ैदी है जब कि हमारे यहाँ मौत तो मुक्ति की पर्याय है। मुझे यह दुख भी नहीं है कि मेरी मृत्यु समारोह पूर्वक होती, लोग भागते-दौड़ते, मेरी बीमारी के लिए चन्दे इकट्ठे किये जाते, सरकारी सहायता ली जाती, इसके-उसके अहसान मेरे ऊपर होते और ऑक्सीजन की नली नाक से बाँधे या सलाइन इंजेक्शन बाँह में लगाये मैं मरता। यह तो बेहतर ही हुआ कि मस्तिष्क ने काम करना बंद कर दिया। पिता की तरह मेरी नस तड़की नहीं, मेरा हार्टफेल नहीं हुआ किसी बुज़दिल की तरह...मुझे अपने आपको सौभाग्य-शाली मानना चाहिए इस मनचीती मृत्यु के लिए। यह सोचते ही रस्सी वाली गठान मेरे हाथ में आ गई। मुश्किल यह है कि वह बायें तरफ़ मेरी पसली के नीचे पड़ती है। मैंने उस अर्थी को मचमचाकर करवट लेने की कोशिश की कि उस गठान को किसी तरह खोल सकूँ। कोशिश करते ही मैं

करवट भी ले पाया और मेरी उँगलियाँ उस गठान की जकड़ पर ठहर गईं। यह तो हमेशा होता रहा है कि जब भी कोई उलझन सामने आती है मैं उसे समझ से ही दूर कर देता हूँ। फिर एक धुँधली सुबह हम दोनों ने तय कर लिया था—'अब प्रतीक्षा का कोई सवाल नहीं उठता...।' उसने कहा था—'तुम दुपहर ठीक तीन बजे मोड़ पर मिलोगे।' मैंने आफिस से छुट्टी ले ली थी लेकिन पौने तीन बजे टैक्सी नहीं मिली थी। टैक्सी की आशा छोड़नी पड़ी क्योंकि उस दिन पद्दोपुकुर में कोई मेला था और लगा कि टैक्सी नहीं ही मिलेगी। मैं ट्राम-स्टाप पर चला गया। बसों की तरफ देखकर हिम्मत ही नहीं पड़ी कि फुट बोर्ड पर पाँव रख भी पाऊँगा। ट्राम के रुकते ही मैं धक्के में लग गया था। मेरे हाथ में एक एअर-बैग ही था। मैं इस तैयारी से गया था या जा रहा था कि अब लौटना नहीं है। मैं सपनों को और अपने निश्चय को पोस्टपोन नहीं करूँगा यह बात मेरे मन में थी। धक्का इतना तेज़ था कि मैं ऊपर का डण्डा भी नहीं पकड़ पा रहा था। सम्भलने के लिए बैग को ऊपर उठाया तो बैग हाथ से छूट गया। आश्चर्य मुझे तब हुआ जब मैंने देखा कि मेरा बैग उस भीड़ के बीच इस बुरी तरह फँस गया है कि वह गिर नहीं रहा है, उसे कोई भी पकड़े नहीं है और वह स्पेस में लटक गया है जैसे। ठीक वही हालत मेरी भी थी। बगैर किसी चीज़ को पकड़े भी मैं आसपास के शरीरों से ऐसे जकड़ा हुआ था कि निश्चिन्त हो गया। उस बेतरह कोई फँस जाये तो गिर नहीं सकता, भले ही वह फँसे-फँसे मर जाये। मैं आसपास हिल-हिलकर देख रहा था कि मुझे उतरना कहाँ है। उस अनन्त भीड़ में मैंने देखा कि तीन बजकर पाँच मिनट हो चुके थे। एक बेताबी मुझमें आ गई थी। पहले तो लटके हुए उस बैग को थामने की मैंने कोशिश की फिर यह सोचने लगा कि उतरूँगा कैसे आखिर। बैग को पकड़-कर अपनी ओर खींचा तो खासी चिल्लाहट मच गई क्योंकि भीड़ को उससे खासा कष्ट हुआ। उतरने के लिए सारी शक्ति लगाकर आगे बढ़ा तो पाया कि स्टाप छूट गया है। जाने कैसे मन में यह बात आई कि मैं किसी बड़ी परीक्षा की कठोरता में से गुज़र रहा हूँ। यह बात मन में न आती तो शायद मैं उसी फँसी हुई स्थिति से छूट भी नहीं पाता। मैंने ज़ोर लगाकर हरक़त की थी और जैसे-तैसे दरवाज़े तक पहुँच गया था। मेरे दोनों कंधे

करीब-करीब छिल गये थे और यह लगा है कि इस बैग को छोड़ ही जाऊँ तो उतरने में तो सुविधा होगी लेकिन वह सोचते ही सोचते मैं चूक गया और ऊपर चढ़ने वाले दौड़ आये। तब मुझे दुहरा संघर्ष करना पड़ा था, चढ़नेवालों को पीछे ठेलकर उतर जाने जैसा मुश्किल काम शायद ही कोई हो। जैसे कई बार जो सोचूँ और न कर पाऊँ तो अपनी सामर्थ्य से कहने लगता हूँ कि ऐसे आदमी को मर जाना चाहिए जो अपने निश्चय को इस-उस कारण से टालता रहे वैसे ही मैं अपने आपसे बोला था कि अगर इस स्टाप पर उतर नहीं पाया तो फिर जीवन में कभी भी फँसी हुई स्थितियों से मुक्त नहीं हो पाऊँगा, इस सोचने भर से मुझमें बड़ी शक्ति आ गई थी। मैं एक बंगाली मोशाई को ठेलकर एकदम ट्राम से बाहर कूद आया था। मेरे कूदने और ट्राम के चलने में एक क्षण की देर भी नहीं हुई थी। मुझे धक्के के कारण चलती ट्राम की विपरीत दिशा में उतरना पड़ा था और मैं मुँह के बल गिरते-गिरते बचा था। ट्राम जब गुज़र चुकी तो मैंने अपनी ही तरफ ग़ौर से देखा था। मेरा बुश्शर्ट कंधे पर से चिर गया था, चप्पल की बद्दी बुरी तरह पीछे की तरफ़ खिंच गई थी, बैग पिचक कर लम्बा हो गया था और मेरा चश्मा गिरा नहीं यही कसर रह गई थी। किनारे पर खड़ा मैं खुद को देखता ही रह गया था कि यह ज़रा देर में क्या हुआ? मैंने सीधे हाथ की उँगलियों से बालों को सँवारा और रूमाल से कसकर चेहरा पोंछा कि पसीना मर जाये। मैं थका तो नहीं था लेकिन मेरी साँसें ज़रूर फूल आई थीं। एक कदम चला तो यह लगा कि सीधे पैर में हल्की-सी मोच आ गई है। मैंने पैर को ज़ोर से झटका दिया और बुश्शर्ट को कंधे पर से ऊपर चढ़ा लिया कि उसका उधड़ा हुआ हिस्सा दिखाई न दे। मैं उस मोड़ की तरफ बढ़ा जिसे पीछे छोड़ आया था। मेरी गति में तेज़ी आ गई थी। पता नहीं वह क्या सोच रही होगी...मुझे ट्राम से उतरने के संघर्ष में कोई पन्द्रह मिनट की देर हो गई थी। वह शायद मेरी प्रतीक्षा करते बोर हो गई होगी। मुझे भी बड़े गलत दिन देर हुई थी। लेकिन मैंने मोड़ का हर कोना छान डाला, वह कहीं नहीं थी और वहाँ ऐसी कोई जगह भी नहीं थी जहाँ किसी ओट में खड़ा हुआ जा सकता था। मेरा हुलिया ऐसा अज़ीब हो गया था कि चेहरे से ही कोई कहे यह आज ही कलकत्ता आया है। पिचका हुआ

बैग और फटा हुआ बुश्शर्ट...मेरे तृतीय पुरुष ने मेरा मज़ाक बनाया था कि कभी उसके पापा मुझे ऐसे में देखें तो क्या तो कहेंगे, शायद उन्हें मैं अव्वल नम्बर का लफंगा लगूँ और वे मेरी तरफ देखना भी पसंद न करें। केवल पाँच मिनट में ही मैं परेशान हो गया कि कहीं वह आकर लौट तो नहीं गई। यदि आकर लौट गई होगी तो ठीक नहीं होगा। लेकिन वह मेरे लिए हमेशा पन्द्रह बीस-मिनट का मार्जिन छोड़ देती है कि मैं कभी भी बिना प्रतीक्षा के उससे मिल ही नहीं पाता। मैं फुटपाथ के पास लगे रेलिंग से लगकर खड़ा हो गया और गुज़रती सड़क को देखने लगा कुछ इस तरह के भाव से जैसे इस समूची दुनिया से मेरा कुछ लेना-देना न हो। सामने के एक पोस्टर पर आँखें गई तो देखा कि एक सरासर मजनू क़िस्म का हीरो पास खड़ी लड़की के सामने घिघिया रहा था। चौंकना स्वाभाविक था कि कहीं मैं भी ऐसा तो नहीं लग रहा हूँ...? लेकिन यह सोचना भी मुझे बुरा लगा क्योंकि हम दोनों के सम्बन्धों में चाहे जितने इन्द्रधनुष दिखाई दें उसे प्रेम नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम दोनों चमकते सूरज की तरह मिले हैं और सामने बहती नदी को ईमानदारी के साथ जादू से नहीं, अपनी ताकत से तैरकर पार करने की बात ही हम सदा सोचते रहे हैं। न मैंने कभी यह चाहा कि उसके उरोजों की छाँहों में लटें बिखरा कर सोना है, न उसने ही कभी यह इच्छा प्रकट की कि मैं उसकी चुन्नी के ऊपर बैठा रहूँ और वह मुझे देककर कुछ गुनगुनाये। हम दोनों या तो ऐसे रोमान्स-वोमान्स जानते नहीं हैं या फिर हम दोनों को ही उसकी एलर्जी है, मुझे शायद रोमान्स से जुकाम हो जाये और उसे तो निश्चित ही उससे उबकाइयाँ आने लगेंगी। एकाध बार हुआ भी है ऐसा कि मुझसे मिलकर जब वह लौटी तो उसने कहा है—'आज उल्टियाँ आ रही हैं।' मैंने ही कारण पूछा तो वह बोली है—'आज तुम्हारे शरीर से बड़ी छायावादी गंध आ रही थी...।' मैंने हँसकर उत्तर दिया था—'वह यूडिकोलोन था।' उत्तर में वह बिगड़ गई थी—'चुप करो। अब जब मिलो तब नहाकर आया करो।...' वह खुद भी हँसी नहीं रोक पाई थी तो मैंने पूछा था कि छायावाद केवल नहा लेने से कैसे गायब हो जायेगा ?...'गंगा नहा लेने से पाप तक धुल जाते हैं फिर छायावाद कैसे नहीं धुलेगा...?' यही सब सोचते मैंने घूमकर देखा

था कि वह आ रही है या नहीं...? दूर तक उसका पता नहीं था। सहसा पाया कि मैं थक गया हूँ। शायद थकन जो आई थी, ट्राम की चढ़-उतर के श्रम से नहीं आई थी, वह इस खयाल से आई थी कि मेरा बुश्शर्ट फटा हुआ है। मैं निढाल होकर रेलिंग पर पाँव बदल रहा था। ठीक से खड़े होने में बड़ी तकलीफ हो रही थी। जब दूसरी बस सर्राटे से गुज़री तो मेरे चेहरे पर तनाव आ गया था, तनाव इस बात का कि वह आई क्यों नहीं जब कि उसे आना ही था। एक क्षण पहले मैं जो थका हुआ आदमी था वही बात की बात में गुस्सैल आदमी में बदल गया। मैंने फ़ोन किया था। वह जैसे उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। बोली—'मैं फँस गई थी। लाख कोशिश करने पर भी घर से नहीं निकल सकी।' उसकी आवाज़ में मुझे खुश करने की विनम्रता दिखी थी लेकिन मेरा खुश होना तो क्या मेरा चुप रहना भी संभव नहीं था। मैं जोर से बोला—'तो?'

'तो क्या, हम सरासर फँस गये। दो बूढ़े लोग हमें देखने आ गये और यह घर की इज़्ज़त का सवाल हो गया कि हम रुके रहें।'

'तो?'

'प्लीज़ इस तरह नाराज़ मत होओ तुम...'

'क्यों नहीं होऊँ नाराज़? अगर मैं नाराज़ नहीं होऊँगा तुम पर तो मर जाऊँगा।'

'प्लीज़ मुझे समझने की कोशिश करो तो...'

'खूब कोशिश कर ली। तुमने कहा तुम फँस गई थीं...तो ओके, जन्म-भर फँसी रहो।'

'देखो आज यह स्थिति सामने आ जाएगी इसकी कल्पना ही नहीं थी मुझे...।'

मैं भी फँसा हो सकता था और मैंने बुश्शर्ट का फट जाना ठीक समझा लेकिन आना कैन्सिल करने की बात दिमाग में भी नहीं आई मेरे...।

अब नाराज़ ही होना है तो होओ नाराज़।'

'हाँ, मेरी नाराज़ी से तुम्हारा क्या बनता-बिगड़ता है। कहीं न कहीं तुम हमेशा व्यस्त रहोगी किसी दिन यह भी कह दोगी कि कल तो मेरी शादी थी इसलिए मिलने नहीं आ सकी।' आज सब चीज़ें शार्प हो गई

थीं...

'वह सब मैं जानती हूँ लेकिन मेरी तबियत भी आज बहुत ख़राब थी।'

'क्या हुआ ?'

'यह मुझे भी नहीं मालूम लेकिन सारा शरीर शिथिल हो गया था। जानती नहीं लेकिन पेरेलेसिस जैसा लगता रहा...'

'बड़ा खूबसूरत एक्स्क्यूज़ है। यह क्यों नहीं कहती कि पेरेलेसिस निर्णय को हुआ है, तुम्हें नहीं।'

'देखो, आज मुझे इन देखने आनेवालों की बात को लेकर पापा-मम्मी से बहुत झगड़ना पड़ा है और मैं इतना तेज़ बुखार महसूस कर रही हूँ कि अगर आज हमारे मिलने की बात नहीं होती तो मैं फ़ोन उठाने की बात भी नहीं सोच पाती...'

'तो फ़ोन उठाकर एहसान क्यों किया। हमेशा की तरह घण्टी बजती और जब कोई न कोई उसे उठाता तो मैं रिसीवर ही रख देता...।'

'मैं अब तुमसे क्या कहूँ और कैसे समझाऊँ ?'

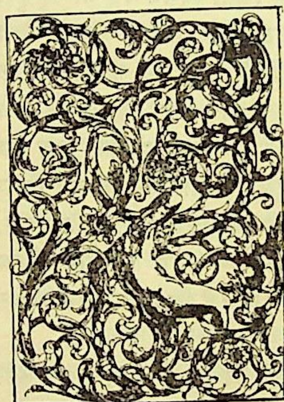
'कुछ भी कहने और कुछ भी समझाने की ज़रूरत नहीं है। ठाठ से आराम करो अपने बँगले में। जिसके नसीब में सड़कें और ट्रामें लिखी हैं वह भीड़ में जन्म भर अपने बुश्शर्ट दाँव पर लगाता रहेगा।'

'सुनो तो...'

'मुझे नहीं सुनना ! ओक्के।'

रिसीवर रखा तो ऐसा लगा जैसे कुछ बहुत ऊँचे से गिरकर टूट गया हूँ। मैं एकदम रिक्त हो गया था। मेरे मन ने उस समय यही सोचा कि यह असफलता नहीं है संयोग है जो हमेशा उसके लिए बदनसीबी ही लाया करता है। वह दिन सच ही भयंकर था। घर लौटते लौट तो गया लेकिन ताला खोलना भी भारी पड़ा। ऐसे ढिलमुल ढंग से जीवन चलेगा यह सोचना भी अजीब लगने लगा। सामने कोई रास्ता ही नहीं दिख रहा था...जैसे आगे कहीं रास्ते का मुँह बन्द कर दिया हो किसी ने...। घर में कर क्या सकता था, यही कि गिलास लेकर बैठ जाऊँ और मन को किसी उबलते हुए बिन्दु पर छोड़ दूँ। नशा तो एक मज़ाक हो गया है अगर

शराब चढ़ती तो राहत तो मिलती अब तो उसे पी-पीकर खराब ही करते हैं। फिर एक ऐसा क्षण अपने आप आगया था कि मैंने अपने आपको सोया हुआ पाया। नींद इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखर गई थी कि उसके टूटने की चर्चा करना भी अजीब लगेगा।...एक काला परदा मेरी आँखों के ऊपर हिल रहा था और परदे में छिपा एक जुगनू कभी इधर चमकता कभी इधर चमकता...। बायाँ हाथ सीधा बिस्तर पर और दायाँ हाथ छाती के ऊपर गिरकर रह गया था। कमरे में पंखा ही था जो परिक्रमा किये जा रहा था, आँखों में वही तलघर फिर उभर आया था।



ऊपर हिलते पत्ते की छाया मुझ पर गिर रही थी और उसमें से जो उजेला छन रहा था वह मेरी आँखों को रह-रहकर चौंधा रहा था। गठान बहुत सख्त थी लेकिन फिर भी मेरी लगातार कोशिश से वह खुल गई थी। वहाँ से भागने के बारे में मेरे मन में कोई संघर्ष नहीं रह गया था। कोई सा भी ऐसा क्षण आ सकता था जब मैं रस्सियों से मुक्त कहला सकता था। उस छोटी-सी कैद में मैं ऐसा घबरा गया था कि लगा था क्या नहीं कर डालूँ लेकिन जब मैं खुद टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरने लगा हूँ जब चाहकर भी कुछ कर नहीं पाता। वहाँ केवड़ातल्ला की मांस-मज्जे की दुर्गंध के बीच एक बार और मेरी लाश आगे बढ़ाई गई। उसके अगले नम्बर पर

परम शान्ति थी। नारियल का एक लम्बा पेड़ और ग्रँधेरा ही अँधेरा। आगे जलती चिता जब हवा से बिखरती तो लपट का एक लाल रंग मुझ पर आ जाता और लौट भी जाता।...एक दिन मैं मृत्यु के लिए सरासर तैयार हो गया था। अपने आपको संतुलित करने की कोशिश भी मैंने रोक दी थी क्योंकि उससे कष्ट ही होता। असंतुलित रहने में मैं बड़ा आराम महसूस करता रहता। दो दिन तक मैंने उसे फ़ोन नहीं किया लेकिन खाना नहीं खाने से जो एक घबराहट सी आंतों में हम अनुभव करते हैं वह मैं सारे शरीर में अनुभव करने लगा। मैं कागज़ पर लकीरें खींच रहा था और लग रहा था कि मैं एकदम किसी निर्णय पर जा पहुँचूँगा और जो भी निर्णय होगा उसके सामने हाथ ऊँचे कर दूँगा। मैंने दो सीधी लकीरें खींची थीं और फ़ोन की घंटी बजी थी। उस घंटी में कुछ था कि मैंने बेसब्री से फ़ोन उठाया था। उसकी सहेली बोल रही थी। जब भी वह मुझे या उसे नहीं मिल पाती एक दूसरे से उसका पता यानी हाल पूछ लिया जाता है। मुझे यही लगा कि उसने मुझे ही नहीं उसे फ़ोन नहीं किया है। उसने पहली बात यह कही—'यह आपने क्या किया ?' मैं चौंक गया, 'क्या ?' वह कुछ तेज़ आवाज़ में बोली थी—'कल उसने स्लीपिंग पिल्स खा ली, एक-दो नहीं एक साथ छः यह ठीक नहीं हैं कि आप उसकी खबर भी नहीं लें...।'

'लेकिन हुआ क्या ? घर कोई बात हो गई ?' मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वह पिल्स खा लेगी और उस बात ने जैसे मुझे झकझोर कर रख दिया था।

'होना क्या है। एक तो उसकी तबियत बिलकुल ठीक नहीं थी। इतना तेज़ बुखार हो परिवार के सब लोग नाराज़ हों और आपका भी पता न चले तो...?'

उसने कुछ और कहा था और फ़ोन रख दिया था। उसने पिल्स खाई क्यों ? मैंने एक-दो भारी वाक्य कहे थे लेकिन वैसे वाक्य मैं पहली बार तो बोला नहीं था, एक बार बोल चुका हूँ। मैं उस दिन के व्यवहार से नाराज़ हुआ था लेकिन खुद ही बाद को अपने से शिथिल हो गया था। पिल्स ? पिल्स क्यों खाई तुमने गुड्डम ? अभी ज़रा देर में मुझे क्या यह

सुनना है कि तुम नहीं हो...। मैं घबरा-घबरा कर फ़ोन कर रहा था उसे। सहसा मैं उठ गया था। मैं अभी उसके घर जाऊँगा। जो होना हो, हो जाये आज। यह भी कोई बात है कि कोई पिल्स खा ले और वह कोई कोई न हो मेरा अपना निकटतम अंश हो फिर भी मैं उसको देख नहीं पाऊँ कि उसने नींद की गोलियाँ क्यों खा ली हैं ? होगा क्या ? यही न कि उसके परिवार के लोग चेहरा बनायेंगे लेकिन यह सरल नहीं है कि मुझे कुछ कह सकें। कल कोई बात भी हुई थी यह मैं भूल बैठा था। केवल यही बात मन में धुँधुआ रही थी कि उसने गोलियाँ खाईं तो क्यों ? मैं एक तोड़ डालने वाले नशे में उसके घर पहुँच गया था। नहीं मुझे किसी भी तरह का भय नहीं लग रहा था मैं यह तक सोच कर गया था कि संभव हो तो उसे साथ ले आऊँगा । सीढ़ियाँ चढ़ते मेरे पैरों में निर्णय की ताक़त आ गई थी। जब उंगली आगे बढ़ी बटन दबाने के लिए तो मैं बटन दबाकर कोने में ज़रूर हट गया था कि डोअर-पेन में से कोई मुझे देख नहीं पाये दरवाज़ा नौकर ने खोला था और उसके ठीक सामने दीवान पर वही लेटी थी। घंटी के साथ उसकी नज़र दरवाज़े पर आई थी और मुझे देखते ही वह दौड़कर मेरे पास आ गई थी। जो पहला वाक्य उसने कहा, वह था—'तुम क्यों आये ?' लेकिन वह वाक्य घबराहट में ज़बान से फिसल गया था।

'मुझे पता था कि तुम आ सकते हो हालाँकि यह भी लगता रहा है कि तुम क्या आओगे।' वह समझ नहीं पा रही थी कि वह क्या तो करे और कैसे कहे कि मैं अन्दर आ जाऊँ या मुझे बेमालूम लौट जाने को बोल दे।

'वह तुमने क्या किया ? कैसी आँखें झँपी हुई हैं तुम्हारी। क्यों खाईं तुमने गोलियाँ ?'...

एह एकदम उदास हो गई। उसकी चमकती हुई आँखों पर कुहरे का घेरा आ गया। आँखें नीचे कर उसने दरवाज़े का सहारा ले लिया था। बोला मैं ही—'जब हमारा साथ रहना निश्चित है तो और कुछ करने की क्या ज़रूरत थी...?'

'मुझसे दर्द सहन नहीं हुआ।' उसने आँखें उठाईं तो आँखों से एक माला धागा टूटने से बिखर गई।

लेकिन गोलियाँ खाते क्या मेरी भी याद नहीं आई ? क्या यह नहीं

लगा कि तुम मर गई तो मेरा क्या होगा ?'

'नहीं, मुझे किसी की याद नहीं आई...और इस आत्म-हत्या के लिए मैं भी ज़िम्मेदार नहीं हूँ...'

'फिर...।' मैं कुछ बोलना चाहता था लेकिन उसकी आँखों को देखकर डर गया। सारी माला के टूट गिरने पर वे आँखें ऐसी हो गई थी जैसे उसमें सिवार उग आई हो, जैसे पलकों पर काई जम गई हो। ये भूरी आँखें मेरी हैं ना, इन आँखों की चमक ही मुझे समुद्र तल से ऊपर किसी ऊँचाई पर ले जाकर पहुँचा देती हैं ना, इन्हीं आँखों में इतनी अधिक नींद आ सकती थी कि ये कभी खुलती ही नहीं।...ये आँखें अगर वन्द हो जातीं तो मैं सारी दुनिया से वदला लेता।

'ना, तुमने अच्छा नहीं किया यह गुड्डम...तुम चाहे जो कर लो प्लीज़...।' उस क्षण मैं जाने क्या हो गया था—मुझे सारी दुनिया दुश्मन लगने लगी थी। हम दोनों ने सारी ईमानदारी सहित एक-दूसरे को चाहा है और इसे यहाँ गोलियाँ खानी पड़ रही हैं मुझे वहाँ शराब पीनी पड़ रही है। मुझे लगा था हम दोनों को आंशिक आत्महत्या के लिए मजबूर किया जा रहा है। आगे बढ़कर मैंने उसे अपने ऊपर थाम लिया था। छूटते हुए उसने कहा था—'छोड़ दो, अभी प्यार मत करो...' फिर उस वाक्य के साथ एक और माला टूटने लगी थी...। मैंने उसे छोड़ा नहीं था—'इधर देखो।...' वह देख नहीं पाई थी मेरी तरफ़ और मुझे एक क्षण को लगा था कि मैंने उसे चूमा नहीं था लेकिन चार आँखों में एक-दूसरे के सामने आने पर जो कुछ आया-गया वह रात-रातों के चुम्बनों से भी अधिक कुछ था।...

'अगर मुझे नहीं छोड़ा तो मुझे एकदम नींद आ जायेगी...।' एक चक्कर सा घूमा था और वह दरवाज़े से टिक गई थी—'जल्दी मत करो। मुझे ठीक हो लेने दो। यह तो है ही कि बच तो गई हूँ...।' मैं उस समय केवल यही समझ पा रहा था कि बादल बहुत हैं और लाख कोशिश करो फिर भी सूरज निकल नहीं सकता।

'आखिर हुआ क्या...तुमने क्यों...क्यों...?'

'यह पत्र मैं नौकर को देने ही वाली थी कि पोस्ट कर दे...पढ़ सको

तो पढ़ लेना।' ख़त मेरे हाथ में था और वह लड़खड़ाती हुई अन्दर चली गई थी। मैंने देखा था वह स्वयं बैड पर गिर गई थी। आगे बढ़कर मैंने दरवाज़ा बन्द कर दिया और सीढ़ियाँ ऐसे उतरा जैसे किसी गहरी खाई में उतर रहा होऊँ...।



वह पत्र नहीं था। बुक-पोस्ट था। ऐसे पत्र रजिस्टर्ड होते हैं, शायद सेफ में रखे जाते हैं, शायद एक अन्तराल के बाद खुलने के लिए होते हैं। वही सब कुछ, मरने के आसपास का इतना अधिक परात्मक हो गया है जैसे हमारे जीवन में नहीं हुआ हो और किसी और के जीवन में हुआ हो...। यह भी तो है ना कि हमारे पास कुछ छिपाने को नहीं रह गया। समझ में नहीं आता दुशाला किसे ओढ़ायें और ओढ़ायें भी तो शरीर का कौन-सा हिस्सा ढकें? बिखरे हुए अक्षरों के कई पन्ने स्टैपलर के एक क्रास से गूँथ दिये गये थे। मैं उन पन्नों को पढ़ नहीं रहा था, देख रहा था, किसी चीज को देखने में जैसे हम तटस्थ हो सकते हैं, वैसी ही तटस्थता आ गई थी मुझमें...

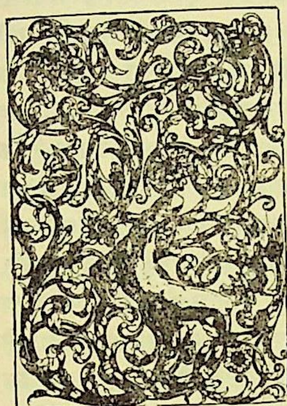
'किसी को क्या लिखूँ? वैसे हल्की हो लूँ? क्योंकि कोई नहीं समझेगा...न मम्मी, न पापा, न वही ही, जो हर बात को समझ लेने की डींग हाँका करता है...। जिस बात को एक बार भोगने में ही जान निकल

गई उसे लिखने, फिर से याद करने और याद करके लिखने का साहस कहाँ से बटोरकर लाऊँ...? मैं कमज़ोर हरगिज़ नहीं हूँ। होती तो पिछले तीन-चार सालों में कभी की मर गई होती। मेरी उम्र कभी उन्नीस की नहीं होती...'कागज का एक टुकड़ा वहीं तक था और सहसा मुझे याद आया कि कल भी तो उन्नीस तारीख ही थी, कहीं उसने जानबूझकर ही तो अपनी उम्र वाली तारीख नहीं चुनी थी, मर जाने के लिए...?

'घर में किसी को नहीं मालूम कि मैं नींद की दवाई खा भी सकती हूँ...। अब मालूम हुआ है तो मेरा मज़ाक ही बन रहा है। कहा जा रहा है कि मरने का यह तरीका नहीं है। यह भी कि मरने से प्रेत योनि मिलती है, मरने से आदमी अधूरा रह जाता है, मरने से आतमा छटपटाती रहती है...कैसे कहाँ से शुरू करूँ, कैसे तुम्हें बताऊँ कि उस शाम मन बहुत भारी था। तुमने जब बिगड़ी-बिगड़ी बातें कीं तो मैं उदास होकर लेट गई थी। इस इच्छा से ही कि जब ठीक हो जाऊँगा तब तुम्हें मना लूँगी। यह कांन्फ-डेन्स मुझमें है कि तुम्हें मैं किसी भी तरह मना ले सकती हूँ। और एक तुम हो...। एक और दर्द ऊपरे से, फिर नींद ग़ायब। मैं करवटें बदलते-बदलते हैरान हो गई...। आँखें पत्थर हो गई थीं। वैसे मैंने ही उठकर देखा तो बुखार पाँच को छू रहा था। मन नहीं हुआ कि पापा-मम्मी को जगाकर परेशान किया जाये...खुद ही बाथरूम गई और सिर धो लिया कि बुखार कम हो जाये लेकिन सिर पर इतना पानी डाला और भीगे बालों से ही विस्तर पर आई लेकिन उतनी देर में ही बाल सूख गये। कहाँ यह हालत होती है कि सिर धो लो और दुपहर भर भी छत पर टहलो तब भी बाल सीलते रहते हैं...। जाने कहाँ से उतनी गरमी आ गई...। एक चक्कर-सा आया। लगा, यह मैं क्या ढो रही हूँ...? कित्ती छोटी-सी ज़िन्दगी और सुबह-सुबह नहीं, शाम-शाम नहीं...। मैं एकदम उठ बैठी। नींद नहीं आने को है ना, तो...? गिलास भर पानी लाई थी...। गोलियाँ खाते मुझे ज़रा कष्ट नहीं हुआ। केवल कुछ देर बाद ऐसा ज़रूर लगा कि तुमने माथे पर हाथ रख दिया है और तुमने ही मुझ बैठी हुई को हौले से लिटा दिया है। मन हल्का हो गया, सब, ऐसा लगा जैसे मैं चाहूँ तो पानी पर पैर भिगोये विना ही हुगली पार कर सकती हूँ...। लेकिन एक घण्टे बाद ही साँसें बिखरने

लगी...। आँखों पर एक कंकरी तैरने लगी और पलकों पर ऐसा लगा जैसे किसी ने ताला लगा दिया है...फिर एक चक्कर आया, ऐसे ज़ोर का कि मैं हुगली में जा गिरी...। बस, एक ही बात मन में थी कि सवेरे आठ नौ बजे घर को पता चलेगा कि मैं नहीं हूँ...जाने कैसे-कैसे ख़याल आये...। वह मौत है, यह मैं अनुभव कर रही और यह साफ़-साफ़ लग रहा था कि किसी ने मुझे बाँहों में उठा लिया है और हाथों में वह झुला रहा है कि वह सारी ताकत लगाकर मुझे नीचे गहरे गड्ड में फेंक दे...मैं सहसा रो तो दी थी लेकिन मुझे मौत वैसी नहीं लगी जैसी तुमने बतलाई, यानी, गिद्ध आँखें नोंच ले जायें और किसी तलघर का अग्निकुण्ड मेरे सामने हो...। मुझे तो ऐसे लगा कि उस तथाकथित हाथ से छूटकर मैं ऐसी गिरूँगी कि जैसे तैर रही हूँ ।चकरी के झूले में बहुत ऊँचाई पर जाने से जो सुख मिलता है वही सुख मेरे साथ था। मुझे तो लगा जैसे किसी ने मेरे स्वागत के लिए लाल मखमल बिछा है और ऊपर से फूल बरस रहे हैं। मेरी पलकें भारी ज़रूर थीं लेकिन अपने परदों पर इन्द्रधनुषों की भीड़ देख रही थी मैं...अपने को हवा में तैरते पाया और सब मैं भूल गई। मुझे तुम याद नहीं आये...अच्छा होता फेंकने वाले हाथ तुम्हारे होते लेकिन वे हाथ मौत के थे, तुम्हारे नहीं थे...। दूर तक कहीं भी तुम नहीं थे...। कोई मुझ पर मुट्ठी में भर-भरकर कुहरा बिखरा रहा था। नीले रंग की शक्ल वाले गुब्बारे जैसे बादल मेरे माथे को छू रहे थे।...एक मिनट को ऐसा लगा है जैसे मेरी शादी की तैयारी हो वह सब...हर तरफ़ रंगीनी थी...रोशनी फुंदनी खेल रही थी...रंग गा रहे थे। रुकती हूँ क्योंकि तुमको लगेगा मैं मौत में भी रोमांस जोड़ रही हूँ लेकिन यह रोमांस की ही बात नहीं है...जैसे तुमने मौत को एक गंदी और लिजलिजी चीज़ के रूप में देखा है वैसे ही मैंने उसे एक चमकते हीरे के रूप में देखा है। क्यों इस रूप में पाया, नहीं जानती यह, और जानना भी नहीं चाहती...। लेकिन यह रोमांस एकदम बिखर गया। मेरे गले में एक गुबार-सा आया और अपने को सम्भाल न पाने की स्थिति में मुझे इसनी ज़ोर से कै हुई कि लगा कोई मेरी सारी आँतों को खींचकर बाहर निकाल दे रहा है...। ज़रा देर के उस गुबार ने मेरी सांसों को ठीक कर दिया। लेकिन साँसें जब गले में जाकर बिखर जाती थीं तब इतना

कष्टकर नहीं लगा था जितना साँसों का रास आना। मैं एकदम खाली हो गई फिर, जो यह सोच रही थी कि अब मरी तब मरी वह क्षण टल गया था। कैसे तुम्हें बताऊँ कि तुम मेरे दर्द को नहीं समझ सकते, समझ सकते तो खुद ही नींद की गोलियाँ लाते, गिलास भरकर पानी सिरहाने रखते और कहते—'लो गुड्डुम, ये गोलियाँ निगल जाओ, सब ठीक हो जाएगा...लेकिन यह मत कहना कि और ऐसे सवाल मत उठाना कि मौत के लिए कौन ज़िम्मेदार है। इन और ऐसी आत्महत्याओं के लिए कोई ज़िम्मेदार हो ही नहीं सकता, यह तो टोनिक है। तुम मुझे, मेरे सोचने को और मेरी उम्र को भी इसके लिए दोषी नहीं ठहरा सकते कि उसने यह आत्महत्या करवाई है। अजीब जड़ता की स्थिति में यह लिख रही हूँ। कल लगा था कि अगर मर नहीं पाई तो पागल तो हो ही जाऊँगी लेकिन मैं तो जड़ हो गई हूँ। नहीं जानती यह जड़ होना क्या होता है लेकिन उसे महमूस ज़रूर कर रही हूँ...। यह बात तुम्हें अच्छी नहीं ही लगेगी कि मरते समय तुम याद नहीं आये। झूठ नहीं बोल सकती—भर बरसात अगर हर तरफ़ तुम ही तुम दिखाई देते हो तो उस तुम्हारे दिखाई देने को मैं छिपा नहीं सकती, वैसे ही तुम्हारे याद नहीं आने को मैं दबा नहीं सकती...। वैसे मर जाती तो अच्छा ही होता कि इस परिवार की बहुत सारी गुत्थियाँ सुलझ जातीं, अगली लड़की तक ये लोग निश्चिन्त हो जाते, और तुम्हारा घर सूना और उदास नहीं होता, मेरे आँसुओं की एक सीलन-सी आ गई है इस घर में तो वह भी दूर हो जाती। प्लीज मेरी उदासी मत देना। मैं जो कुछ हूँ वह मेरे अब तक के ज्ञान और मेरे अब तक के संचित दर्द सहित उपयुक्त ही नहीं, जायज़ भी है...।..."



जिस तटस्थता से मैंने वस खुली डाक पढ़ना शुरू की थी वह तटस्थता ऐसी हो गई जैसे किनारा ही बह गया हो और मैंने खुद को पानी के बीच कैद पाया हो। नहीं, वह पढ़कर निढाल नहीं हुआ मैं, उन पंक्तियों से मेरी आँखों की ज़मीन भीगी नहीं...। अपने ही बारे में एक भ्रम था जो टूट गया था। एक बार मैंने उसे कहा था कि तुम इसलिए कभी मर नहीं पाओगी क्योंकि तुम्हें मेरा ख़याल आयेगा और मेरा ख़याल तुम्हें मरने नहीं ही देगा। यह सोचने का कारण केवल यह है कि एक बहुत दूर तक का भविष्य उसके साथ जुड़ा है। यह वैसा ही फीलिंग है जैसे साथ के यात्री से यह जानकर हम यात्रा भर निश्चिन्त हो जाते हैं कि इसे भी वहीं जाना है जहाँ हमें पहुँचना है लेकिन वह यात्री अगर बीच में ही उतरने वाला हो तो हम उससे जुड़ नहीं पाते। गुड्डम वच गई और इस आत्म-हत्या ने उसकी आँखें खोली ही हैं लेकिन उसने मुझे कितना दूर समझा है यह तो स्पष्ट हो ही गया। मैं सोते, उठते, बैठते एक मिनट को उससे अलग नहीं हो पाता हूँ और उसे वे गोलियाँ खाते यह नहीं लगा कि एक के अन्याय की सज़ा दूसरे निरपराध को फाँसी भी हो सकती है। ऐसे कानून की बात फिज़ूल है लेकिन मरने में स्वेच्छा होती है यह मैं नहीं जानता। हम पढ़े-लिखे वैसे भी 'चूँकि-इसलिए' के बाद मरते हैं...मर जाना सरल हो सकता है लेकिन मरने के

बिन्दु तक पहुँचना बहुत मुश्किल है...। इसने जो मुझे दूर समझा है कि किसी दूसरे से उसकी गोलियाँ खा लेने वाली बातें एक खबर की तरह मैंने सुनी हैं, कि आँखों के जिस समुद्र को मैंने तैर-तैरकर साफ़ रखा था उसमें एक रात में ही ऐसी काई जम गई कि अब उस पर पाँव फिसल जाते हैं...। यह दूरी एक बार स्पष्ट होनी चाहिए और उस केन्द्र को मुझे देखना है कि जहाँ से कोई परिधियाँ फेंके जा रहा है, वे जाल की तरह एक के बाद एक ऐसे वृत्त बनाती जा रही है कि हम उन्हें बेधकर आगे नहीं बढ़ पाते। मैं कहीं डूबा नहीं था, उठ गया था...। उसने महसूस किया है कि बहुत ऊँचे, जैसे कोई फेंक देना चाहता है, उस नीचे गिर जाने में कैसा हल्कापन होता है उसे एक बार देख लेना होगा। मैं जानना चाहूँगा कि ऊपर ऊँचाई से नीचे गिरते समय ऊपर का आकाश आईना हो जाता है या परदा...? इस दूरी को एक बार भौगोलिक दूरी बना कर देखना होगा। मेरे मन में वह बात किसी सनसनी खेज निर्णय की तरह नहीं आई थी...। मेरा बैग तैयार था ही, मैंने होल्डाल भी कस लिया। आज जब हाथ खुल गये हैं तो अर्थी पर से उठ भागने में मैं तर्क कर रहा हूँ कि कोई देख न ले। सहसा प्रेत समझकर लोग मेरा जीना हराम न कर दें। मुझे आहिस्ता-आहिस्ता रस्सी के सारे बल निकालने हैं फिर शरीर पर तौलिया बाँधना है, बाद में आस-पास का वातावरण देखकर भागना है। यदि ऐसा नहीं किया तो कोई भी परेशानी सामने आ सकती है लेकिन उस दिन तो मैं ऐसे उठ गया था जैसे उस घर लौटकर नहीं ही आना है। सवेरे के ग्यारह बजे थे और जब टैक्सी में मैंने सामान रखा तो उसे याद किया था और बहुत धीमे से ओठों में बोला था—'ठीक है।'

'कन्सेशन मिल जायेगा, रिटर्न टिकट क्यों नहीं लेते?' विण्डो क्लर्क बोला था। मैं उसकी तरफ देखकर गरज उठा था—'आप बुकिंग करते हैं या सलाह देते हैं...।'

मेरे चिल्लाने से वह डर गया था। सॉरी कहकर उसने टिकट मुझे दे दिया था।

ट्रेन छूट गई थी। गुज़रते हुए प्लेटफार्म पर बहुत सारे हाथ हिल रहे थे। मैं डिब्बे में बहुत अन्दर बैठा यह कोशिश कर रहा था कि आँखों को

मींचकर बैठने में ज़्यादा आराम मिलेगा। उमस से दम घुट रहा था लेकिन जी चाह रहा था कि यह उमस और बढ़ जाये तो राहत मिलेगी। चलती ट्रेन की उस लगातार आवाज़ के बीच मैं यह सोच रहा था कि उससे दूर जा रहा हूँ। पास आने में अगर हलचल होती है तो दूर जाने में भी होती है। वैसे भी आती हुई लहरों से लौटती हुई लहरें अधिक शोर मचाती हैं। मैंने एक जैसे बैठे-बैठे शाम कर दी थी। अगर पिता के सेरेब्रल हेमरेज जैसी स्थिति के समानान्तर आकर मैं ठीक वैसा ही नस का तड़कना महसूस कर सकता हूँ तो उस बिन्दु पर भी पहुँच ही सकता हूँ, जहाँ जाकर इतनी गालियाँ खाई जा सकती हैं कि नींद मौत की तरह आ जाये।...फरक्का जब ट्रेन रुकी और ब्रह्मपुत्रा पार करने के लिए मैं जब स्टीमर में बैठा तो अँधेरे में उठ-उठकर लहरें किनारे से ऐसे टकरा रही थीं कि बूँदों में छिटक-छिटक कर पानी मुझ पर आये जा रहा था। उस स्टीमर पर पूरा एक शहर था—दूर पास के कस्बों में काम करने वाले मजदूरों से लगाकर पहाड़ पर ऐश करने के लिए जा रहे सैलानियों तक...। मैंने स्टीमर के शोरगुल के बीच यह जाना कि सारी दुनिया भी अगर इस इतनी सी जगह में आ जाये और अपनी सारी शक्ति सहित हल्ला करने लगे तब भी मैं उसके बीच कटकर बैठा अकेला आदमी ही लगूँगा। मैंने यह पाया कि मैं घुलनशील नहीं हूँ, उबलते पानी या एसिड के बीच भी अगर मुझे रख दिया जाये तब भी मैं घुल नहीं जाऊँगा और शायद किसी ने बहुत तेज़ तेजाब के बीच मुझे रख भी दिया है और उस कारण से मैं टुकड़ों में ज़रूर बँटता जा रहा लेकिन टुकड़े कर दिये जाने से कोई घुल कैसे सकता है? ब्रह्मपुत्रा की लहरों पर चलते लुए उसमें कूद जाने की इच्छा नहीं हुई। यह मन करता रहा कि यह नदी कभी पूरी न हो। पानी की तरफ देखते-देखते मैं स्थिर-बुद्धि तथागत हो गया था। एक क्षण मैंने यह पाया है कि अकेलेपन में एक बेहोशी आती है और अगर कोई मन को खुला छोड़ दे तो मूर्छित भी हो सकता है। वह मूर्छा कुछ नहीं देखी, नशा कुछ नहीं देता...बस, मन ऐसा हो जाता है जैसे किसी ने साफ़ काग़ज के ऊपर बहुत-सी उलझी-मिलझी लकीरें ऐसे ही बैठे-बैठे बना दी हैं। वे उलझी हुई लकीरें एक छत्ते की तरह लिपटी हुई पड़ी रहती हैं। कोई चाहे तो उसमें से आवृति उभार

सकता है...लेकिन उस सबसे क्या होगा...? मुझे नहीं मालूम कब स्टीमर किनारे लगा और कब मैं अपना सामान लिये-लिये खेजूरिया घाट की रेत पर गिरता-पड़ता किनारा पार करता रहा। मेरे पाँव रेत में धँसे जा रहे थे और एकदम बढ़ने में भी बड़ा श्रम लगता था। एक बिन्दु पर दम फूल गया था। बायें पैर पर सारा ज़ोर आ गया था और लगा था अगर मैं बैठ नहीं गया तो गिर जाऊँगा लेकिन मैं बैठा नहीं, अगला पैर जमाकर आगे बढ़ा। सचमुच मन यही कर रहा था कि अगर थक ही गया हूँ तो गिर जाऊँ लेकिन रुकूँ नहीं। मैं पसीने में नहा गया था। मेरे पैर बोलने लगे थे। मेरे हाथ तन गये थे। मेरी आँखें सूज आई थीं। मेरी साँसें फूल गई थीं... लेकिन अच्छा-भला ज़िन्दा था मैं...फिर ट्रेन में बैठकर मैं पंखे की तरफ देखने लगा था। नीचे से किसी ने माचिस माँगी थी। मैंने दे दी थी। उसने पूछा था—'कहाँ जा रहे हैं?...' मैंने जवाब नहीं दिया था। उसने भी दुबारा नहीं पूछा। या तो मेरी चुप को उसने अण्डरस्टैण्ड कर लिया था या फिर मुझे बहरा समझ लिया...। मैं एक जैसा बैठा रहा। डिब्बे में पैर रखने को जगह नहीं थी लेकिन मुझे यही लगता रहा कि सब दूर सब कुछ खाली है। थोड़ी देर में ट्रेन के चलने की आवाज़ तक गायब हो गई। केवल यह बार-बार सोचता रहा हूँ मैं कि निश्चित ही हमारे मस्तिष्क में एक आटोमैटिक सायलेन्सर भी होता है जो अपने आप काम करने लगता है और सब कुछ चुप हो जाता है। यही कारण था कि मैं कुछ नहीं सुन रहा था। अच्छा हुआ कि मैंने अपने आपको सनक के ऊपर छोड़ दिया है। अब मैं जहाँ जाऊँ जो करूँ...! मन अपने आप अगर ऐसी स्वतन्त्रता से बोर होकर लौट आता है तो बात अलग है नहीं तो मैं इसे लौटाऊँगा नहीं, यही होगा ना कि मैं इतने ऊँचे पहाड़ पर लावारिस लाश के रूप में पाया जाऊँगा...। वैसे मैं ज़िन्दा हूँ तो भी मेरा कौन वारिस है...दूर तक कोई नहीं। गुड्डम को याद करके मैं अतिरिक्त रिक्त न हो जाऊँ इस डर से मैंने खिड़की का शीशा ऊपर चढ़ा दिया और सिर बाहर निकाल लिया...। मैं जो इतना खाली महसूस कर रहा हूँ उसका कोई भी कारण हो सकता था। उसका कारण अकेला होना ही नहीं है और भी कुछ है मेरे पास किसी भी तरह की ऐसी गोली नहीं है कि जिसे मैं घबरा कर खालूँ या शराब भी

नहीं है कि पी लूँ और कहीं भटक जाऊँ...उस सब की जरूरत भी तो नहीं है। पहले जैसे लोग समाधि लगा लेते थे, प्राणायाम से साँसों को रोककर अपने प्राण त्रिपुटी पर चढ़ा लेते थे, वही सब मेरे साथ हो रहा है। क्या कोई ऐसा क्षण एकदम आ जा सकता है कि मैं प्राणहीन पाया जाऊँ...? मृत्यु मुझे उस क्षण हथेली में लगी थी। मुझे यह लगा था कि अगर मैं बैठे-बैठे चाहूँ कि मुझे मर जाना है तो मैं हक़ीक़तन मर जा सकता हूँ...। मरने का एक नया ढंग, अधिक आत्मनिर्भर ढंग मेरे हाथ में आ गया था और उस उपलब्धि से मेरी आँखें चमकने लगी थीं। बाहर से आती सरसराती हवा और दौड़ती गति ने मुझे समाधिस्थ कर दिया था। मुझे शायद वैसे ही वैसे नींद आ गई थी।...मौत क्या है—एक बेहोशी, एक गहरी नींद, घना अँधेरा, दूर तक सूना आँगन, सीलन भरा तलघर, एक लगातार उलझन, किसी क्षण साँसों का बिखर जाना, एक ऐसा चक्रव्यूह कि हम निर्णय ही न ले पायें, एक ऐसी स्थिति कि हमारा समर्थ मस्तिष्क काम न कर पाये, सोच न पाये, हम हाथ उठाना चाहें तो हाथ न उठा पायें - ये सब चीजें अगर सघन हो जायें और वैसा ही वैसा लगातार होता रहे तो एक क्षण पहले जिसे हम ज़िन्दगी का टुकड़ा कहते हैं उसे ही मृत्यु कह सकते हैं...। किसी झटके से शीशा छूट गिरा था और सख़्त लकड़ी ठीक मेरी गरदन पर जम गई थी। मैं तिलमिला उठा था गरदन की मेरी नसें तन गई थीं। वह झटका इतना ज़ोर का था कि मेरा जो सिर खिड़की के ऊपर गरदन रखकर सो रहा था, वह सोचने से कटकर चिल्ला उठा। बड़ी मुश्किल से गरदन पर से उस शीशे वाले पल्ले को मैंने ऊपर चढ़ाया था और जीने और मरने के बीच का छोटा-सा अन्तर बहुत स्पष्ट हो गया था मेरे सामने...। वही अगर कुल्हाड़ा होता, बूमरेंग होता या गिलोटिन की शक्ल का होता या तेज़ आरा होता तो ज़रा देर में मेरी गरदन कटकर डिब्बे से बाहर गिर जाती...। मैं गरदन मसल रहा था। मेरी आँखों में उस तीखी मार से पानी भर आया था। सिर ऐसा भारी हो गया था जैसे ख़ून कहीं जमा हो गया है मैं परेशानहाल सिर सहलाता रहा था। गिरे हुए शीशे के पार न्यू जलपाईगुड़ी का सवेरा चमक रहा था...फिर उतरना है। फिर अगली ट्रेन पकड़नी है...। मेरे सामान के साथ गरदन का दर्द

और बढ़ गया था। लेकिन मृत्यु के उतने नज़दीक जाने की खुशी से मैं उत्साही भी हो उठा था। मुझे जैसे मौत के गहरे से खड्ड और तलघर में झाँक लेने का अवसर मिल गया था। सामने नीले रंग की टाय-ट्रेन खड़ी थी। छोटे-छोटे खिलौने जैसे डिब्बे और बेहद नीची छत। छितना छोटा दरवाज़ा उतनी ही अधिक भीड़।...ज़रा आगे बढ़ते ही पहाड़ दिखने लगे थे। चायबागान की घाटियाँ भरी हुई थीं। ऊपर का आकाश धीरे-धीरे नीलापन खो रहा था...। सुकना से उस छोटी रेल के पाँच टुकड़े हो गये थे। मैं सबसे आगे के टुकड़े में था। पहाड़ का घुमाव बार-बार ऐसा लगता था जैसे किसी दाँव-पेच में से गुजर रहे हों हम...। आगे बढ़ती बहुत धीमी गति में पिछले टुकड़े आते हुए दिख रहे थे मुझे। मैं अपने टुकड़े-टुकड़े हो जाने से परेशान होता रहता हूँ लेकिन ऐसी चढ़ाई में तो अपने आपको टुकड़ों में बाँटकर ही ऊपर पहुँचा जा सकता है...। इतने घुमाव, फिर चढ़ाई, फिर असली चढ़ाई के लिए कदम पीछे हटाकर ऊपर चढ़ने के लिए ताक़त इकट्ठा करना...। गरदन पर जब शीशा गिरा तो मेरी उम्र साठ से अधिक हो गई थी और रेल के इस छोटे से टुकड़े में बैठकर साथ-साथ चलते देवदार देखते मेरी उम्र पीछे लौटने लगी थी। लेकिन नीचे की खाई को देखकर लगा था मेरे पाँवों पर किसी ने पत्थर रख दिया है, लुढ़ककर बैक हो जाने की बात सोचना भी बचपन है। लेकिन बचपन की हज़ार बातों से मुक्त नहीं हो सकते...वे इतने गहरे से मन पर लिख जाती हैं कि बाकी जीवन-भर याद आती रहती हैं। मुझे अब तक वह पत्थर याद है जिसके ऊपर मेरी सारी समझ और उम्र खड़ी है कि वह कितना अँधेरा था और सीलन भरा था। मुझे अब तक वह विघ्न-दौड़ याद है कि कैसे रास्ते में काँटे बिछा दिये जाते थे, कैसे जगह-बेजगह फर्नीचर रख दिया जाता था, कैसे कदम-कदम पर घुमाव-फिराव बना दिये जाते थे...और उन सबको पारकर भागना होता था। उम्र बढ़ती गई और मुझे लगा कि वह विघ्न-दौड़ तो आगे आने वाली मुश्किलों का माडल था जो मेरी छोटी आँखों को दिखाया गया था। उसे पार कर जब मैंने पहला नम्बर पाया था तो हेड मास्टर ने मुझे एक छाता इनाम में दिया था। अब सोचता हूँ तो सोचता ही रह जाता हूँ कि तब मुझे छाता ही क्यों इनाम में दिया गया था...?

केवल एक ही अन्तर आ गया था कि जिसका नाम पहले विघ्न दौड़ था वही ऐसी लगी बाद को कि इसमें लाँग, हाई हर तरह के जम्प लेने पड़ते हैं और ओंठ भिगाते मैंने कहा था उससे कि यह दौड़ मुश्किलों का काकटेल है...मेरी आँखें खिड़की से बाहर थीं। झुण्ड के झुण्ड देवदार झुण्ड में खड़े होकर भी गंभीर लग रहे थे। ऊँचाई पर बहने वाली हवा का झोंका मुझे छू गया था। एक फुहार भरा बादल रेल के साथ-साथ बहने लगा था। उस चलती हुई धुंध के पीछे दूर तक ऊँचाइयाँ फैली हुई थीं। मैंने बेग की ज़िप खींचकर पुलोवर निकाला था। लहरों वाली काली लकीरें बल खाने लगी थीं। यह पुलोवर और ठीक इसी डिज़ाइन का कार्डिगन एक साथ खरीदा गया था कि देखें तो चौरंगी पर हमें देख क्या बीतती है...? उस पुलोवर में एक रखी हुई गंध थी जो फिनाइल की गोलियों से भी मरी नहीं थी...। ज़रा देर पहले का मैं जो कलकत्ता की जानलेवा उमस से परेशान था पहाड़ की ठण्डक में पुलोवर पहनकर अपने शहर के मौसम से मीलों दूर आ गया था...। शायद किसी से दूर हो जाने का यही एक तरीका है कि उससे बदले हुए मौसम, उससे बदले हुए भूगोल में जा पहुँचो। कलकत्ता में एक चलती हुई भीड़ होती है, पसीना पोंछते चेहरे होते हैं, इस-उस बात से दहशत खाये लोग होते हैं और उन सबके बीच हम होते हैं और यहाँ सब बदल गया है—यहाँ सुरूर देनेवाली ठण्डक है, देवदार की समानान्तर ऊँचाइयाँ हैं और एक यह अहसास भी है कि हम ऊपर चढ़ रहे हैं...। अगर भूगोल और मौसम से ही कोई किसी से दूर हो सकता है तो हो सकता है पाँच डिग्री बुखार ने भी तो तापमान बदल दिया होगा। मेरा घर पहले तल्ले पर है और उसका कमरा बहुत ऊँचाई पर है, इससे भी तो भूगोल में अन्तर आता ही है...। जिस टुकड़े में बैठा था वह सबसे पहले दार्जिलिंग जा पहुँचा। स्टेशन बोर्ड पर मैंने पढ़ा था—'दार्जिलिंग मेल अराइविंग इन फाइव पार्ट्स...।' एक क्षण को लगा था कि जब मेरा अपना आप इतना अधिक विभाजित है तो बेहतर होता कि उसे भी पाँच अलग-अलग टुकड़ों में टिकट खरीदवा देता...। तब कोई मेरा अपना मुझे रिसीव करने आता तो यही कहता कि—'ही इज़ अराइविंग इन फाइव पार्ट्स...।'



वहाँ जैसा अपना आप टुकड़ों में बँटा हुआ लगा था, अब वैसा नहीं लग रहा। लग रहा है कि मेरे सब टुकड़ों को इकट्ठा कर अर्थी पर रखा गया है और मैं समूचा मरा हूँ, मेरा कोई भी हिस्सा अब ज़िन्दा नहीं है...। रस्सी के बल खुल गये तो मैंने तौलिये को ठीक से सम्भाला। पेन लिखी सील ठीक मेरी छाती पर चमक रही थी और वह एक सुरक्षित सुगंध ही थी जो मुझे परेशान कर रही थी, और नहीं तो ऐसा कुछ नहीं था जो मुझे दाँये-बाँये देखने को मौका भी देता। मैंने तो यह तक सोच लिया कि उठते ही तौलिये को अपने शरीर पर लपेट लूँगा और पीछे की तरफ हटता हुआ उठ खड़ा होऊँगा। किसी लाश को उठ खड़ा होना कैसा होगा इसकी एक छोटी-सी जिज्ञासा मेरे मन में आई और यह डर लगा कि यहाँ से उठते ही कोई प्रेत-जीवन शुरू न हो जाये लेकिन उठ जाने का निश्चय तो मुक़म्मिल था। वे चारों लोग पीछे की दीवार से टिके खड़े थे। उन्हें मैंने पहचानने की निरर्थक कोशिश ज़रूर की लेकिन वह व्यर्थ गई क्योंकि वे आम चेहरे थे...। कोई अगर मुझे ही नहीं पहचान रहा है तो इन्हें कोई क्या पहचानेगा। मैं जीते जी इस तरह की चाल चलता रहा जो भीड़ में अलग लगती रही है और उसे ही लोग भूल गये तो इनकी क्या बिसात...? मन में एक हास्या-स्पद बात यह भी आई कि इन लोगों से परमीशन लेकर जाना ठीक होगा

या ऐसे ही...। यह सोचना भी अज़ीब लगा और मैं बड़ी देर तक हँसता रहा। यह कोई स्कूल तो है ही नहीं कि मास्टरजी की परमीशन लेकर बाहर जाना है ...। ज़रा देर में ही यह सोच लिया कि अगर मेरे मरने के लिए कोई ज़िम्मेदार नहीं है, तो मेरे जी उठने के लिए कोई क्यों ज़िम्मेदार समझा जाये...? मैं अपनी रिस्क पर ज़िन्दा हो जाना चाहता हूँ...। ज़िन्दा रहने में जो तकलीफ़ें हैं वे सब मैं जानता हूँ और मैं उन तकलीफों के कारण तो मरा भी नहीं था ना, मैंने तो ख़ुद ही एक क्षण सब चीज़ों को ठीक से समझ-समुझकर अपनी मृत्यु आप ही घोषित करवाई थी...।



उस एक मौत को ही ढूंढ़ता हुआ मैं दार्ज़िलिंग के उतार-चढ़ावों में भटका था। आब्ज़रवेटरी पर महाकाल के मन्दिर पर जब मैं कुछ नहीं कर पाया तो एक बैंच पर अपना नाम लिख कर लौट आया था...बहुत तेज़ घिरे बादल वाले दिन भुतिया मानेस्टरी की गहराई में धर्मगुरू से एक ही सवाल पूछा था मैंने—'ये बुद्ध की इतनी तसवीरें आपने बनवा रखी हैं क्या यह बतला सकते हैं कि वह आदमी अपने परिवार को छोड़कर कमज़ोरों की तरह भाग क्यों खड़ा हुआ ?' तिब्बती लिपि का कोई पाठ पूरा कर ओंकार जपते हुए उस लामा को मेरा सवाल अच्छा लगा था। उसने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा था—'यह मूर्ति विष्णु की है। इसकी आँखें देखो। केवल

दो आँखें कम होती हैं तो कलाकार ने इसके ग्यारह सिर बना दिये यानी उतनी ही आँखें भी बढ़ गईं लेकिन उस से भी कुछ नहीं हुआ तो उसकी हथेलियों में आँखें बना दीं और दोनों तरफ़ एक-एक सहस्र हाथ बना दिये और एक हाथ में एक आईना भी रख दिया कि वे दुनिया को देख सकें...। मैं चुप तो रहा लेकिन यह ज़रूर लगा कि क्या सारी ट्रेजडी दुनिया को ठीक से देख लेने की ही है और यह देखना जब समाप्त होता है क्या तभी हम अपना टिकट फाड़कर फेंक देते हैं...? या यह चाहते हैं कि छत आईना हो जाये, दीवारें टूटकर रोशनदान पैदा करें...? मुझे लगा कि वह मुझे टूरिस्ट समझकर बोर कर रहा है, सो मैं बुद्ध की उस मूर्ति के सामने रुक गया जिसमें उन्हें परिनिर्वाण मिल गया था। मैंने फिर पूछा—'ये इस तरह क्यों मर गये ?' उसने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा था—'बुद्ध कभी मरे नहीं...।' वह धर्मगुरू इतना अधिक मुस्करा रहा था और बेज़रूरत सौम्यता से जवाब दे रहा था कि मैं उस पर नाराज़ भी नहीं हो पा रहा था। मरने न मरने की बात पर न जाते मैंने इतना ही पूछा—'तो क्या वे घर से भागे भी नहीं थे...?' धर्मगुरू खुलकर हँस दिया—'उस कहानी को ठीक से समझो तो वे भागे भी नहीं थे, वे कहीं चले गए थे...?'

अब तो मैं खुद परिनिर्वाण की स्थिति में लेटा हूँ और देखने वाले मेरे चेहरे पर भी परिनिर्वाण का नक्शा देख सकते हैं लेकिन बुद्ध की वह मरणोपरान्त तस्वीर इतनी अधिक ज़िन्दा लगती है कि सच ही वह आदमी मरा होगा इस बात में मुझ जैसे पढ़े-लिखे आदमी को भी अविश्वास होने लगता है। सहसा मैंने छाती पर हाथ बाँध लिए थे और ऊपर धुएँ भरा आकाश देखने लगा था। क्या ऐसे लेटे रहने में शान्ति है ? उस समय न पत्नी का खयाल कि उससे तलाक लेना है या उसे खर्च का रुपया देना है, न यह विचार कि मेरे बच्चे की उम्र अब चार साल की होगी और उसे किसी बेहतर स्कूल में दाखिला दिलवाना है, न माँ की फ़िक्र कि वे ज़िन्दा है या मर गई और न झंझट कि दस बज गये आफ़िस जाना है सो शेव करें, कपड़े पहनें, न ही गुड्डम की याद कि वह इस समय क्या कर रही होगी, कहीं अभी ही फ़ोन तो न आ जाये, कहीं अभी के अभी ही निर्णय लेकर चला तो नहीं जाना है...! सारी व्यस्तता एक मिनट में रफ़ू हो गई...। यह

सोचते ही उस लाश-स्थिति में भी मैंने इतना खाली और बोर अनुभव किया कि वश चलता और ब्लैड मेरे पास होता तो उठ बैठता और नाख़ून काटता...लेकिन नाख़ून काटने का तो यह अवसर नहीं है। सहसा उस तरह के विचारों से मुझे डर लगने लगा कि कहीं उठकर चले जाने का विचार मैं ही ड्राप न कर दूँ...।

एक सुबह माल रोड पर टहलते मैं कुहरे में डूब गया था और उस कुहरे को चीरते-चीरते मैंने सोचा था कि आज मैं लगातार चलता ही रहूँगा। बोटानिकल के लायड पार्क वाले दरवाज़े पर पहुँचते ही मन खो गया था। वहाँ के देवदार इतने अधिक ऊँचे लगे कि मुझसे बर्दाश्त नहीं हुए, वहाँ इतनी अधिक चढ़ाइयाँ-उतराइयाँ थीं कि मन भारी हो गया। मैं वहाँ से लौट आया था और उदास चौरस्ते पर घूमता रहा था। एकदम बादल कहीं बरस कर खाली हो गये थे और सामने के साफ़ आकाश में कंचनजंगा की सुनहरी चोटी चमकने लगी थी। दूर तक चमकता हुआ बर्फ़ आँख में चुभने लगा था। यह नहीं पता कि किसी ने पूछा था या मुझे ही लगा था कि मैं दार्ज़िलिंग आया क्यों, यहाँ कोई काम था या बर्फ देखने के लिए आ गया हूँ ? सवाल का जवाब देने के बजाय मैं बैंच पर जा बैठा था। चाहता यह था कि वहीं का वहीं बैठा रहूँ लेकिन उस बैंच का सूनापन या बीच फ़्लैट्स में बढ़ती हुई भीड़ मुझे खाने लगी, वहाँ मुझसे बैठा नहीं गया...। उठा और चहलकदमी करते आगे बढ़ता गया। थोड़ी देर में मैंने पाया कि मैं ज़ू के सामने हूँ। चढ़ाई पर आगे बढ़ते मैंने पाँव घुमा लिए... ज़ू में जाकर क्या होगा ? आगे बढ़ा तो एक पहाड़ी चेहरे के आसपास बहुत से लोग खड़े दिखे। जाने क्यों लगा कि इस आदमी को कहीं देखा है। उसे देखते मैं भी रुक गया। कोई एक लड़का तेनसिंग नोरके से पूछ रहा था—'आखिर आप एवरेस्ट पर चढ़ कैसे गये ?' वह इस सवाल से हँस दिया था—'यह तो मुझे भी नहीं मालूम लेकिन पहाड़ों पर चढ़ने का मुझे शौक है और एक दिन मैंने पाया कि मैं एवरेस्ट को छू आया हूँ...' मैं भी चढ़ रहा था। मेरी चढ़ाई मुझे किसी ऊँचाई पर भले नहीं ले जाती हो लेकिन यह सही है कि मैं समुद्रतल से ऊपर उठ रहा था, उस समुद्रतल से जहाँ रेत ही रेत है...। मैंने सामने देखा माउण्टेनियरिंग इंस्टीच्यूट

के द्वार पर एक आदमी सीधी चढ़ाई चढ़ रहा था। ऊपर लिखा था—'मे यू क्लाइंब पीक टु पीक।' किसी ने तब मुझसे कहा था—ऊँचे और ऊँचे चढ़ते और चढ़ते ही चले जाओ...इतना अधिक घूम लेने से मेरे पैर वज़नदार होते जा रहे थे लेकिन मन भीगे कम्बल सा भारी हो गया था और मुझमें शक्ति थी ही नहीं कि उस कम्बल को ज़ोर से झटककर सारा पानी अलग कर देता। ऊपर चढ़ते मैंने देखा कि बायीं ओर खासा ढलान है, इतना कि अगर पैर चूके तो कितने नीचे जाकर गिरूँगा, इसका अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता। मुझे एक ही बात उस चढ़ाई पर लगी थी कि मरना किसी कारण से नहीं होता है। वह तो एक निश्चय के रूप में मन में पक्का हो जाता है और फिर भले किसी भी बिन्दु पर हम अपने को खत्म कर लें...आफ़िस में बॉस की नाराज़ी के समय प्रेमिका के ग़लत उत्तर दे देने पर, पत्नी से झगड़ा हो जाने पर या ट्रेन का शीशा गरदन पर गिर जाने के क्षण...या ऐसे ही हाँफते हुए...। उस समय एक भौगोलिक दूरी मेरे सामने थी और यह बात भी सामने थी कि मैं हल्की चीज़ की तरह पानी में गिरकर भी बार-बार उन पर तैर आता हूँ और मैं जिसे चाहता हूँ उसमें कोई वज़न है या कोई वज़नदार चीज़ उससे जुड़ी हुई है कि वह पानी में गहरे डूब जाता है। मेरी साँसें इस तरह चलने लगी थीं जैसे हौज़ के पानी में से अन्दर खुले नल से हवा निकल रही हो और वह बुड़बुड़ा कर ऊपर आती जा रही हो। मैं पैर जमा-जमाकर चल रहा था लेकिन एकदम भागने लगा—सीधी चढ़ाई के ऊपर साँसें रोककर दौड़ते हुए चढ़ने में मैं देखना चाहता था, साँसें ज़्यादा से ज़्यादा आने जाने में कितना बड़ा अन्तराल दे सकती हैं...। शायद एक फ़र्लांग की वह चढ़ाई हो या इससे अधिक, पता नहीं, यह ज़रूर मालूम है कि मेरे फेफड़े उल्टी तरफ़ सिकुड़ने लगे थे। मेरी आँखों के सामने चमकते नीलम का रंगीन प्रकाश आ गया था। मेरी धमनियाँ बड़े मसक की तरह फैल गई थीं, मुझे आकाश देखने की फुरसत नहीं थी, यह फुरसत भी नहीं थी कि जिससे भागकर आया हूँ उससे बिदा तो ले लूँ...अगर मैं नहीं भागा होता तो संभव था होटल जाकर नींद की गोलियाँ खा लेता। अन्दर से जो कुछ घुमड़ रहा था वह सहा नहीं जा रहा था। उस समय कोई भी ऐसा बिन्दु

नहीं था कि मैं आत्महत्या के लिए प्रयत्न करता लेकिन मेरे जीवन में वह निश्चय कभी पहले हुआ है और उससे मैं भाग नहीं सकता। इतनी-इतनी वार कोशिश कर लेने के बाद भी मैं मर नहीं सका हूँ लेकिन उस चढ़ाई पर जब आख़िरी साँस टूटी तो मैंने देखा मेरे साथ-साथ दौड़ते रेलिंग्ज़ के बाहर जो देवदार हैं वे गिरते जा रहे हैं...कहीं कोई आवाज़ नहीं हो रही है लेकिन देवदार गिरते ही जा रहे थे...यह भी लगा कि एक तीखी आवाज़ मेरे कानों को बींधती हुई आगे बढ़ रही है...सहसा नीलम का रंगीन प्रकाश बुझ गया और मैंने खुद देखा कि मेरे पैर लड़खड़ाये, मेरी आँखें ज़ोर से बन्द हो गईं और मैं लुढ़क गया। मैं बायीं तरफ़ वाले खड्ड की तरफ़ झुक था...जैसे नीचे की ओर जाने वाला दरवाज़ा फिर खुल गया हो।...

किसी ने मुझे उठाकर खड्ड में फेंका नहीं था मैं खुद जैसे उस खड्ड में फिक गया था...। आँखें खुली तो मेरा सारा शरीर कीचड़ में भरा हुआ था और पानी हल्के-हल्के बरस रहा था। आँखों को दो बार झपकाने के बाद मैं यह समझ पाया कि मैं कहाँ हूँ, किस स्थिति में हूँ और उस स्थिति में क्यों पहुँचा हूँ...? शायद ऐसे पानी नहीं बरसता तो मेरी बेहोशी टूटती भी नहीं...। चौंककर मैंने देखा कि मैं सीधे हाथ से किसी चीज़ को मजबूती के साथ पकड़े हूँ। उस परचित गोलाई पर मेरी उंगलियाँ अँगूठे के दूसरे कटाव को छू रही थीं। वह तो ऐसी सख़्त नहीं है...। मैंने देखा था घूमकर कि मैं रेलिंग थामे हूँ। शायद दार्जिलिंग के सारे रेलिंग्ज़ उसकी कलाई के नाप से बनवाये गये हैं...आंखों को कौंधता हुआ नीलम लौट गया था... आगे बढ़कर देखा तो बर्फ की ऊँची चोटियाँ सोना बिखराती चमक रही थीं। बहुत संघर्ष के बाद साँसें ठीक चलने लगीं तो मेरी इच्छा हुई गरम काफ़ी पीनी चाहिए...। उस उतनी सी देर में उस पहाड़ की शक्ल बदल गई थी या यह कहूँ कि मेरी आँखों की चमक कुछ और हो गई थी। थोड़ी देर बाद ही कैवेण्टर्स में बैठकर कॉफ़ी पीते यह लगा था कि मुझे उसी समय लौट जाना चाहिए...वहाँ से इसलिए नहीं भाग रहा था कि कहीं और उस पहाड़ी पर चढ़कर लुढ़क न पड़ूँ...। उस लौटने का यह कारण भी नहीं था कि मैं वहाँ रहना नहीं चाहता था...यहाँ आने का अगर कोई कारण नहीं था तो यहाँ से लौटने का भी कोई कारण नहीं था। मैं अगर

मर जाऊँ या खुद को मार डालूँ तो उसका कोई विशेष कारण नहीं होगा। भरी जवानी से मैं टूटता रहा हूँ और अब वे बिन्दु आ गये हैं कि मैं ढह जाऊँ...इससे अधिक तर्क मैं नहीं कर पाऊँगा और अगर मैं ज़िन्दा हूँ और अगले तीस साल भी न मर सकूँ तो उसका भी कोई अलग कारण नहीं होगा—मैं यह कभी नहीं कह पाऊँगा कि कंचनजंगा की बर्फ़ को देखकर मुझे ज़िन्दा रहने की प्रेरणा प्राप्त हुई या यह भी नहीं कि मृत्यु के पास जाकर मृत्यु से मैं नफ़रत करने लगा हूँ। मौत की तसवीर मेरे मन में जो है हमेशा वही रहेगी और शायद असली मृत्यु के समय वही सब भोगना भी होगा। वैसे किसी न किसी संदर्भ में मौत हमेशा हमारे इर्द-गिर्द ही नाचती रहती है...। याद है मुझे, उसकी किसी बहन ने उसे बतलाया था—'मरते समय एक चक्कर आता है और वह वैसा ही सन्नाटा पैदा करने वाला होता है जिसमें हम अनन्त गोलाई नापने लगते हैं...वह ठीक हुला-हूप जैसा होता है।' मौत के बारे में हूलाहूप के घूमते बेल्ट की कल्पना से मैं चौंका था लेकिन पहली बार जब नाराज़ होकर मुझसे वह छिटककर अलग हुई थी तो मैं ही उससे क्षमा माँगने लगा था, तब उसने हँसकर कहा था—'इसमें तो ठीक हुलाहूप जैसा लगता है...' यह कहते ही वह बुदबुदों में उठती शर्म से मुझसे लिपट गई थी। एक और वाक्य कहा था उसने—'अगर इसी तरह का हूलाहूप मौत में भी होता है तो कोई भी मरना चाहेगा...।' उसकी आँखों में भी उस समय लाल डोरों वाला एक हूलाहूप था और वह अपनी गति से घूमता जा रहा था। तब कहा वाक्य मुझे हर समय याद आता है—'तो हम प्रोमिस करते हैं कि ऐसी छोटी-छोटी हूला-हूपनुमा मौतें तुम्हें हमेशा दिया करेंगे...।' मैं नहीं जानता कि यह कौन-सी चीज़ है कि संभोग जैसी पूर्णकाम क्रिया भी हमें मौत जैसी सुखद लगती है। उससे पहचान ही जब हुई थी तो उसकी छोटी-सी हथेली को मैंने चूम लिया था। तो पहला वाक्य यही निकला था उसके मुंह से—'टु डाई एट द मोमेण्ट ऑफ सुप्रिम बिलस...।' उस शाम भी मैं उस अठारह वर्ष की लड़की का चेहरा देखता रह गया था। मैं तो यह सब नहीं जानता कि किसी एक क्षण मर जाने जैसा कैसे लगता है...। मैं तो पहाड़ पर पाई जाने वाली फर्न की उन लम्बी पत्तियों सा हो गया हूँ जो ज़रा-सी धूप में

सूख जाती है और फुहारों भर पानी भी बरस जाये तो फिर देखते-देखते हरी हो जाती हैं। लौटते में रास्ते भर मैं यही सोचता रहा कि जब मुझमें कोई परिवर्तन जैसी बात घटित नहीं हुई है फिर यह लौटती हुई यात्रा किसलिए ? क्या दार्जिलिंग की चमकती हुई बर्फ इसके लिए ज़िम्मेदार है ? या वहाँ लगे उसकी कलाई के नाप के रेलिंग्ज़ मुझे उस उतनी ऊँचाई से बचा लेने के अपराधी हैं ? या उजड़े हुए ड्राइंगरूम ही मुझे बहुत रास आते हैं ? सियालदह उतरते मैंने अपने आपसे चीखकर पूछा था कि मैं यह सब क्यों ढो रहा हूँ ? मैंने स्वयं अपने आपको उत्तेजित करने की गरज़ से यह तर्क कहा था कि तुम जैसे बदनसीब आदमी को मर जाना चाहिए...। मैं स्टेशन की भीड़ के बीच घबरा गया था। मेरे पास ज़िन्दा रहने के लिए कोई उत्तर नहीं था। दूर तक मैं देखता रहा। मशीन की तरह टैक्सी में बैठकर घर भी आ गया। कमरों में जमी हुई धूल के उपर लौटा हुआ सामान भी रख दिया। बाथरूम जाते अपनी उंगली से मकड़ी के एक जाले को भी काटकर फेंका लेकिन किसी बात का मुझ पर कोई असर नहीं हुआ था। और कुछ नहीं बना तो सिगरेट जला ली और बन्द कमरे में धुएँ के बीच शिथिल होकर बैठ गया। उस क्षण यह मैंने अनुभव किया था कि उत्तर न देने पाने की घबराहट से मैं पसीने में नहा गया हूँ। उस खण्डहर में बैठकर सिगरेट का कश खींचते यह नहीं लगा कि ज़िन्दगी में फिर से शुरू होने जैसी कोई चीज़ होती भी है ..ज़िन्दगी तो चलती है केवल चलती है...। मैंने दूसरी सिगरेट जला ली थी...फिर तीसरी...फिर चौथी भी।... शायद पाँचवी भी। मुझे अब अगर याद है तो यह कि मेरे मस्तिष्क पर एक पहाड़-सा टूट पड़ा था, जैसे कंचनजंगा का सारा बर्फ़ टुकड़े-टुकड़े होकर आवाज़ करता हुआ लुढ़कता चला आ रहा हो। मैं चीखा नहीं था बल्कि एक प्रतीक्षा मुझमें चलने लगी थी उस क्षण के लिए जब उस बर्फ़ के नीचे मैं दबकर उस बर्फ में से छूट भागने की कोशिश करने लगूँगा।...हवेली की निचली तरफ खुलने वाली तलघर का बन्द दरवाज़ा खुल जाएगा और सोया हुआ अँधेरा मुझे बुलाने लगेगा। हो सकता है वह दरवाज़ा बर्फ की तरफ मुझ पर आ गिरे...या आग उगलने लगे. . .।



उसी पहाड़ में से छूटकर मैं निकला तो एकदम आँखों ने खुलकर यह पाया कि ऊपर आकाश है—सरासर आकाश, नीला नहीं, साँवला और धुएँ से परेशान । मैंने अपने आपको अर्थी पर बँधा हुआ पाया और यह बात मुझे याद आई कि मेरे ज़िन्दा रहने पर जब हज़ार सवाल उठाये गये तो मेरे मन ने यह कामना की थी कि अगर मैं जवाब नहीं दे पाता तो मुझे मृत घोषित कर दिया जाना चाहिए...लेकिन अब जब उस स्थिति में से गुज़र चुका हूँ तो अपने अन्दर की छटपटाहट से मैंने अपने बँधे हुए शरीर की रस्सियाँ भी खोल ली हैं और अँधेरे का लाभ उठाकर तौलिया पहन लिया है कि किसी की नज़र एकदम मेरी लाश पर चली जाये तो वह न समझ पाये कि यह वही आदमी है जो मर चुका है, जिसे कंधों पर लादकर चार आदमी यहाँ तक लाये हैं, जिसे जलाने के लिये लकड़ियाँ भी खरीदी जा चुकी हैं, वही आदमी फिर जी उठा है। मैं एक ही बात से डर रहा था कि मेरे जीवित हो उठने का कारण अगर फिर पूछा गया तो अब भी मैं जवाब नहीं दे पाऊँगा एकदम हकला जाऊँगा और हो सकता है कि श्मशान के लोग साज़िश करके फिर से मुझे इसी अर्थी पर लेटने के लिए मजबूर कर दें...। मैं अँधेरे में फिसलता हुआ आगे बढ़ने लगा था कि कोई मुझे पहचान न ले। जो लोग जलाने आये थे वे लाशों को क़तार में लगाकर

निश्चिन्त हो गये थे कि जब आयेगा नम्बर तब लाश को फूंक देंगे। लाश का आना, उसका चिता पर सजाया जाना और उसका जल जाना इतना अधिक औपचारिक लग रहा था मुझे कि श्मशान पर छाया हुआ धुंआ और माँस-मज्जा की चिरायंधी दुर्गंध धूप जलने की-सी लग रही थी...। कोई रो भी रहा था तो बेहद नाटकीय ढंग से...। तब मुझे यह अवश्य लगा कि हमने जो आंशिक मृत्यु सही है उसमें बड़ा वज़न है...। एकदम मुझे जब लगा कि मैं केवड़ातल्ला से बाहर आ गया हूँ तो ज़ोर से साँसें ली मैंने और घूमकर श्मशान की तरफ उसी तरह देखा जैसे दार्जिलिंग छोड़ते ट्रेन में से दूर दिखते चौरस्ते को देखा था और जैसे ट्रेन में बैठे यह सोचा था कि वहाँ कहीं वह सूनी बैंच होगी जहाँ मैं बैठा रहता था वैसे ही श्मशान से बाहर आकर यह सोचने लगा कि वहीं कहीं वह अर्थी होगी जिस पर अभी ज़रा देर पहले मैं सोया हुआ था...। मुझे उठाकर लानेवाले चारों दोस्त उस समय भी सिगरेट पी रहे थे और घुंघराले बाल वाले की तरफ़ देख मुझे यह डर लगा कि मेरा डेथ सर्टिफिकेट तो इसके पास है...यह चाहे तो मेरे जी उठने पर भी मुझे मृत साबित कर सकता है। यह मैं जानता हूँ कि डेथ सर्टिफिकेट किसी भी शर्त पर कैन्सिल नहीं हो सकता। एक चिन्ता ने मेरे मन में घर बनाया लेकिन एक क्षण बाद ही आँखें चमकने लगीं कि मृत्यु अपनी जगह कायम भी रहे तो मेरे नाम का एक बर्थ सर्टिफिकेट तो दिया ही जा सकता है...मेरी जन्मतिथि ही तो बदलेगी, मृत्यु 'जातक' ही तो हो जाएगी उससे। मैं फिर कोई नया नाम ढूँढ़ सकता हूँ अपने लिए...मेरे जन्म पर फिर बताशे बाँटे जा सकते हैं, फिर षष्ठीस्नान के दिन माँ मुझे तौलिये में लपेटकर गोद में ले सकती है, सूर्य पूजा के दिन फिर मुझे किनारियों टँका झगला पहनाकर माँ पाँवों में आलता रचा सकती हैं, मैं फिर से धीरे-धीरे बड़ा हो सकता हूँ, अन्नप्राशन के दिन फिर मेरे छोटे-छोटे ओंठों पर खीर भरी उँगली रखी जा सकती है...मुण्डन...यज्ञोपवीत...शादी मैं सहसा घबरा गया था क्योंकि सामने से एक बंगाली दूल्हा गुज़र रहा था और शहनाई की जाने कौन-सी धुन उस समारोह को रेखांकित कर रही थी और दाँत की केविटी पर ज़बान चली गई थी।

दो क़दम आगे बढ़ा हूँ मैं और सारा बाज़ार नया-नया हो गया है मेरे

लिए। मैं ऐसी चमकदार आँखों से शहर को देखने लगा हूँ जैसे वह सब अनजाना हो मेरे लिए। मेरे पाँव पहिये हो गये हैं और मैं चल नहीं रहा हूँ, बह रहा हूँ...न दिशा मेरी है न ही रास्ता मेरा कमाया हुआ है...ये सब चौराहे नहीं हैं, यह तो चौसर बिछी है...मैंने अपने नंगे शरीर पर तौलिया ठीक से बाँध लिया है और दिग्भ्रान्त मुद्रा में सामने देख रहा हूँ...। रंगारंग न्युओन साईन और अपनी-अपनी व्यस्तता के बीच किसी की नज़र मुझपर नहीं गई कि मैं रास्ते से गुज़र रहा हूँ, ये लोग जब मुझे ढोकर ला रहे थे तब भी किसी ने मुझे नहीं देखा था...फुटपाथ पार करते अपने गालों पर हाथ चला गया है। यह मन होने लगा कि पहले शेव करवाऊँ फिर आगे के बारे में सोचूँगा...या नहीं पहले एक कुल्हड़ चाय पी लूँ...या यह भी नहीं, पहले यह देखूँ कि बजा कितना है...या केवल चलता चलूँ और जब थक जाऊँ तब जो जी चाहे वहीं से सब शुरू करूँ...? यही सोचते एक बार फिर तौलिये को ठीक से कस लिया है। जब कोई बात समझ में नहीं आई तो सामने जो भी ट्राम दिखाई दी उसी में चढ़ गया हूँ। सब लोग मुझे घूर-घूरकर देख रहे हैं और जब कण्डक्टर मेरी तरफ आता है तो झटके के साथ आगे बढ़ मैं ट्राम से उतर जाता हूँ...

कितनी लम्बी भाग-दौड़ के बाद मुझे मुक्ति मिली है...कि मेरे आगे अब किसी तलघर का कोई दरवाज़ा नहीं है जिसे नीचे की तरफ खुलना है या ऊपर की तरफ बन्द होना है। और तो और यह भी नहीं जानता कि मैं चलता ही रहूँगा या चलते-चलते जम जाऊँगा...। सामने खुली सड़क है और देख रहा हूँ कि मैं अपनी इच्छा से चल सकता हूँ और अगर जी चाहे तो फुटपाथ पर भी बैठ सकता हूँ या मन हो तो यहीं सो भी सकता हूँ...।

●